इन से

लेखक

आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल

लेखक—
आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल
आवरण शिल्पी—
कांजिलाल

आवृत्ति—
प्रथम—नवम्बर, १९५७
मूल्य—
दो रुपये पचास नये पैसे

प्रकाशक—
ओम्प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉ० न० ७०, ज्ञानवापी,
वाराणसी—१

मुद्रक—
श्रीकृष्णचन्द्र बेरी
विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०,
डी० १५/२४ मानमन्दिर

निवेदन

समय समय पर लिखे गये १८ निवन्धो का यह एक छोटा-सा सग्रह एक पुस्तक के रूप में आज प्रस्तुत किया जा रहा है। यो तो चूँकि ये निवन्ध पहले के लिखे हुये है और इनमें से अनेक—एक नही अनेक पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित भी हो चुके हैं, "पुराने" कहे जा सकते हैं। सच तो यो है कि मुझे भी आशा ऐसी ही थी। वर्षो पहले की उपस्थित परिस्थितियो में प्राय विवशतावश ही इन निवन्धो के मिस मुझे जो कुछ कहना पडा था उसे अब तक पुराना हो जाना चाहिये था। लेकिन वास्तविकता कुछ यह है कि आये दिन "प्रगति" का नारा लगाते हुये भी हमारा जीवन शायद सच्ची प्रगति के पथ पर अग्रसर नही हो सका। क्योकि वही "पुराने" प्रश्न आज भी विशेपकर हमारे साहित्यिक जगत में ज्यो के त्यो हमारे सामने वर्त्तमान हैं।

पाठक स्वय देखेंगे कि इस सग्रह के प्रत्येक निवन्ध में जो कुछ कहा गया है वह कुछ प्रमुख व्यक्तियो से अथवा व्यक्ति-समूह से ही कहा गया है। जैसा ऊपर निवेदन किया जा चुका है जव जो कुछ कहा गया वह किन्ही महत्त्वपूर्ण प्रश्नो अथवा समस्याओं के सम्बन्ध में सुझाव के ही रूप में अपनो के वीच कहा गया है, व्यावहारिक-नीति का सिद्धान्त यह है कि एक ही पथ के पथिको के वीच स्पष्टता का ही व्यवहार होना चाहिये, आपस में औपचारिक दुराव वहुत हितकर सिद्ध नही होता। इसी भावना से प्रस्तुत निवन्धो में भी जो कुछ निवेदन किया गया है वह स्पष्ट अवश्य है, कटु नही। इच्छा तो यह थी कि किसी स्थल पर किसी व्यक्तिविशेप का नाम उल्लिखित न हो यथा-शक्ति इसके निर्वाह की चेष्टा भी की गई है, किन्तु फिर भी कुछ प्रसग तो ऐसे आ ही गये कि जहाँ प्राय विवशतावश कतिपय मित्रो के नाम लेकर ही वात कहनी पडी। लेकिन ऐसे प्रसगो पर भी भावना शुद्ध स्पष्टता को छोड कर कदापि व्यक्तिगत लाछना की नही है। आशा है इसी रूप में सहृदय पाठकगण इस सग्रह को स्वीकार करेंगे।

वर्षो वाद भी हमारे प्रश्न और हमारी समस्यायें चूँकि आज भी हमसे उत्तर चाहती हैं, और जो उत्तर दिये जा चुके है वही आज भी उपयुक्त हैं, इसी मान्यता के आधार पर पुनरावृत्ति दोप का विना भय

किये वेही उत्तर दोहराये जा रहे हैं। ये भी ठीक है कि कुछ प्रश्न चिरन्तन होते हैं जिनके लिये कहा जाता है कि, 'जो हल हुआ न होगा, वह है सवाल मेरा', वैसे प्रश्नो का उत्तर उन्ही के अनुरूप भी चिर-नवीन और चिरन्तन हुआ करता है', लेकिन जिन प्रश्नो का जिक्र इन निबन्धो में है, ये उस कोटि के नही। इसीलिये ये नवीन उत्तरो की अपेक्षा भी नही कर सकते।

सग्रह साहित्य-सेवियो की सेवा में अर्पित है और उन्ही को समर्पित है। उन्हे अधिकार है वे जिस रूप में चाहे इसका स्वागत करें।

—लेखक

विषय-सूची

जाहि कहौ हित आपना सोई वैरी होय

उत्साह और उन्माद में उतना ही भेद है, जितना तर्क और कठमल्लेपन में। पहला जितना हितकर होता है, दूसरा उतना ही हानिकर। लेकिन मनुष्य की इन दोनों प्रवृत्तियों के प्रमाण सदा से ही मिलते रहे हैं। शान्ति और निर्माण के सात्विक क्षणों में तर्क और उत्साह प्रबल रहते हैं, किन्तु अशान्ति और घोर विनाश के समय में यदि उन्माद या कठमुल्लापन ही जोर पकडता दीख पडे, तो क्या आश्चर्य है ? हिन्दी-भाषा और उनकी बोलियों को लेकर आजकल कुछ पंडितमन्य भाषाविदों के मन में जो व्यर्थ की उलझनें देख पडती हैं वे इसका एक खासा नमूना हैं। प्रारम्भ तो इसका शायद किसी बैठे-ठाले के मनबहलाव से ही हुआ था, लेकिन 'वृष्णियों के मेले में झाडूवाले परिहास' की तरह इसने कुछ नासमझो को बहकाना शुरू कर दिया है और कभी-कभी तो आचार्यों और महारथियों को भी इस खिलवाड का विषाक्त धुआँ दृष्टिहीन सा किये डाल रहा है। सारी बहस कुछ इस उतावलेपन से की जाती है कि विवेक-बुद्धि का उसमें कहीं पता ही नहीं चलता। इस असामयिक और अकारण विप्लव के कर्णधारों में ऐसे मनीषी विद्वानों की भी कमी नहीं दीख पडती, जिन्हें 'भाषा' और 'बोली' में क्या अन्तर है तथा इनका क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, इसका भी ज्ञान नहीं। आए दिन ऐसे लेख पढने को मिलते हैं, जिनमें यही पता नहीं चलता कि लेखक किसे और कब भाषा कह बैठते हैं और किसे बोली ? ऐसों के लिये 'भाषा' 'बोली' और 'जुबान' उनकी आवश्यकता के अनुसार मनमाना अर्थ दे दिया करती हैं।

इस साधारण से प्रश्न को लेकर भाषा-विज्ञान के तत्त्वों की लम्बी-चौडी विवेचना करने का इस लेख में न तो स्थान है और न आवश्यकता।

सिद्धान्त रूप से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'भाषा' अधिक व्यापक सज्ञा है जिससे समान रूपवाली विविध बोलियो के समूह का बोध होता है। किसी भी सभ्य देश का जन-समूह अपने विचारो का आदान-प्रदान अपने प्राकृतिक रूप में विविध अचलीय बोलियो के ही माध्यम से किया करता है। प्रत्येक बोली की प्रधानत निम्नलिखित अपनी विशेषताएँ होती हैं—(१) शब्द-भडार, (२) वाक्य-विन्यास (अर्थात् शब्द सगठन प्रणाली), (३) उच्चारण। इन्ही विशेषताओ में निहित रहता है उनका पारस्परिक वैशिष्ठ्य एव उनकी भिन्नता। किन्तु इन ऊपरी विभिन्नताओ के बावजूद भी यह निरन्तर देखा जाता है कि विविध अचलीय बोलियो में भी विचार तथा सस्कार परम्परा-साम्य के कारण एक प्रकार की नैसर्गिक समूहबद्धता दीख पडती है। इसका एक कारण उनके क्षेत्रो की पारस्परिक भौगोलिक निकटता भी अवश्यम्भावी है। इस प्रकार एक समूह में बँधी हुई बोलियो की सज्ञा का नाम होता है भाषा। परन्तु 'भाषा' की परिधि में प्रविष्ट होने से बोलियो की निजी विशेषतायें लुप्त नही हो जाती और न उनका महत्त्व ही घट जाता है। पारस्परिक निकटता तथा अनेक अन्य प्रभावो के कारण उनमें निरन्तर परिवर्तन भी होते ही रहते हैं, जिसे क्रमागत विकास कहा जाता है। यही नैसर्गिक नियम है, अन्यथा 'प्राकृत' या 'अपभ्रश' का ही युग चला करता और आधुनिक बोलियो तथा भाषाओ का तो जन्म भी शायद न होता। यही भाषा-विज्ञान का मूल तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। अब इसके अनुसार किस 'बडे अगरेज़ की राय' का खण्डन होता है या किस 'महापण्डित' या 'भाषाविज्ञानाचार्य' के मन का भण्डाफोड होता है, इसके सकोच के लिये गुजाइश नही।

उपर्युक्त कसौटी पर कसते ही देखने में देर न लगेगी कि राजस्थानी, बुन्देली, बघेली, उर्दू (उसके छद्मवेश में अरबी या फारसी नही) हिन्दी की अन्य छब्बीस बोलियाँ हिन्दी-भाषा की परिधि में आ जाती है या नही? इन विविध बोलियो की साधारण-सी जाँच से पता चल जायगा कि सबका शब्द-भण्डार या शब्द-ग्रन्थन प्राय एक-सा ही है। दस-पाँच लौकिक या देशज सज्ञाओ या इनी-गिनी क्रियाओ को छोडकर सज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया का सारा कोष एक ही है। विशेषण या क्रिया-विशेषणो की भी यही दशा है। कारक-चिह्नो तथा प्रयोगो में पूर्वी और पश्चिमी बोलियो

में अन्तर कुछ अधिक स्पष्ट है किन्तु समानता भी कम नहीं, क्योंकि इस भेद का आधार कोई नितान्त विदेशी प्रभाव तो है नही। इसका प्रधान कारण है विकास-क्रम का अन्तर ही। युगो की पारस्परिक घनिष्ठता ने इनमें एक स्वाभाविक सामजस्य भी स्थापित कर दिया है, जिससे हिन्दी-भापा के विस्तृत क्षेत्र के निवासी अपनी-अपनी वोलियाँ वोलते हुए भी एक ही भापा-कुटुम्व के अग वने चले आ रहे हैं। तुलनात्मक रूप से उपर्युक्त आधारो में केवल उच्चारण-भेद ही सवसे अधिक स्पष्ट है। इसका कारण प्रधानत व्यक्तिगत योग्यताओ और भौगोलिक वातावरण पर निर्भर करता है। लेकिन केवल इतने से ही 'भापा' और 'वोली' का सम्वन्ध विच्छिन्न नही हो जाता। यह वात इतनी स्पष्ट है कि अनेक उदाहरणो की आवश्यकता नही जान पडती, किन्तु फिर भी एक उदाहरण हम यहाँ देते हैं। एक क्रियाशील राष्ट्र-सेवी सज्जन ने, जो राजपूताने के निवासी तथा अपनी वोली के परम पडित, प्रवल समर्थक एव प्रेमी हैं, अपना लेख अपनी वोली में ही लिखना पसन्द किया है। उस महत्त्वपूर्ण लेख का आरम्भ इस प्रकार होता है—"आ वात तो दूसरा जगा दियोडा आँकड़ो सू समझ में आय सके है के राजस्थानी वोली वोलवावाला गुजराती वगेरेसू वहोत ज्यादा तादाद में है। फेर काइ सवव है के मारवाडी में अखवार नही, कितावा नही और पोशालो की पढाई भी धीरे-धीरे खतम होती दीखे है। जवाव है एक और वो ओ के मारवाडी कौम ने अपने पणो को प्रेम नही।" (रा० सा० स० वुलेटिन नं० ३, पृ० १०)

हिन्दी-भापा-भापी क्षेत्र के किसी भी कोने का अपढ व्यक्ति भी राजस्थानी के उपर्युक्त उद्धरण को समझने में भूल न कर सकेगा। अव यदि यही अश 'साहित्यिक हिन्दी' में लिख दिया जाय, तो उसका रूप होगा—"यह वात तो दूसरी जगह दिये आँकडो से समझने में आ सकती है कि राजस्थानी वोलने वाले गुजराती वगैरा से वहुत ज्यादा तादाद में हैं। फिर क्या सवव है कि मारवाडी में अखवार नही, कितावें नही और पाठशालाओ (पोशालो) की पढाई भी धीरे-धीरे खत्म होती दीखती है। जवाव है एक—और वह है यह कि मारवाडी क़ौम में अपनेपन का प्रेम नही।" दोनो उद्धरणो को देख कर समझने में देर न लगेगी कि हिन्दी का साहित्यिक रूप तथाकथित राजस्थानी 'भापा' (?) का ही परिमार्जित

रूप है। या यह कहना भी उतना ही सही होगा कि राजस्थानी वाला 'साहित्यिक हिन्दी' का 'प्राकृत' रूप है। विचार करने पर यही पारस्परिक सम्बन्ध हिन्दी के साहित्यिक रूप का उसकी किसी भी अन्य बोली के साथ देखा जा सकता है। इतने पर भी ऐसे बुद्धि-विचक्षण देखे जाते है, जिन्हें पूछने में सकोच नही होता कि 'तब तो हिन्दी में सब बोलियाँ ही बोलियाँ है, फिर हिन्दी भाषा क्या है?' उनके लिये उत्तर यही है कि शरीर में नाक, कान, हाथ, पाँव इत्यादि सब अग और अवयव ही तो है, फिर मनुष्य कहाँ और क्या चीज है?

व्यर्थ उपदेशक बनने का रोग बहुत पुराना है। कहते है शीत काल में दमे के मर्ज़ का दौरा तेज़ हो जाया करता है, कुछ उसी प्रकार राष्ट्रीय निर्माण के क्षणो में उपदेशको का बावलापन भी उभड पडता है। प्राय सभी ईमानदार तथा दूरदर्शी राष्ट्र-प्रेमी युगो से कहते चले आए है कि राष्ट्रीय सगठन के लिए हम भारतवासियो को भी अन्य अचलीय भाषाओ के अतिरिक्त एक अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा अपनानी ही होगी और कम से कम पिछले दो सौ वर्षो से अपनी विविध योग्यताओ के कारण हिन्दी ही उस पद के लिए स्वीकृत है, तथा उसी का इस रूप में व्यवहार भी होता चला आ रहा है। लेकिन फिर भी व्यर्थ उपदेशकी के बावले स्वयभू नेतागिरी का चोगा पहने यह कहना अपना फर्ज़ समझते है कि "हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, उन्हें विशेष सतर्क रहना चाहिये कि कही उनके दुराग्रह और हठ से राष्ट्रभाषा हिन्दी की क्षति न हो और राष्ट्रभाषा के प्रति अन्य जनपद-वासियो में उदासीनता का भाव न आ जाये। हिन्दी का हित इसमें ही है कि इसके प्रचार में सब का सहयोग प्राप्त हो। यदि किसी जनपद-निवासी के मन में यह धारणा उत्पन्न हो गई कि उसकी मातृभाषा की अवहेलना हो रही है अथवा उसकी उन्नति और विकास में बाधा डाली जा रही है, तो इससे राष्ट्रभाषा की ही क्षति होगी, क्योकि कोई भी अपनी मातृभाषा का निरादर नही होने देगा। और फिर भी ऐसी मातृभाषा जिसमें सैकडो वर्षों से साहित्य वर्त्तमान है, जिनके बोलने और लिखनेवालो (?) की सख्या करोड से भी अधिक है और जिसकी लिपि भी भिन्न है। सच तो यह है कि हिन्दी-भाषियों को प्रसन्न होना चाहिए कि अन्य जनपदीय भाषा-भाषी भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उच्च पद पर सुशोभित करना अपना कर्त्तव्य समझते है।"

कहना न होगा कि ऐसे उपदेशो में नेकनियती की सलाह की अपेक्षा दुर्बल धमकियो से अधिक काम लिया गया है। 'भाषा' शब्द का प्रयोग यहाँ भी कुछ भ्रामक ही है—कदाचित् 'बोली' के अर्थ में ही उनका प्रयोग हुआ है। खैर, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो इससे दो प्रश्न स्पष्ट उठ खड़े होते हैं—(१) हिन्दी (उसके साहित्यिक रूप) का विकास क्या परोक्ष रूप से अन्य बोलियो के विकास में किसी तरह घातक सिद्ध हो रहा है ? (२) हिन्दी-भाषा का राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन होना उसकी योग्यता और उपयोगिता का फल है या उनके प्रति पक्षपात या दया का ? बात यदि यही तक सीमित रहती, तब भी बुरा न होता, किन्तु मातृ-भाषाओ के 'अपमान', 'बाधा' और 'निरादर' की निर्मूल आशका का बारम्बार सकेत हिन्दी पर अनुचित एव अप्रासगिक आक्षेप है। यह समझ मे न आया कि 'विकास-बाधा' की आशका किसी बोली-विशेष के विकास के सम्बन्ध में है, या बोली के साहित्य के विकास के सम्बन्ध में, या दोनो के ? यदि अभिप्राय बोली के विकास से है, तो यहाँ यह प्रश्न अनुचित न होगा कि हिन्दी की ऐसी किस कार्य प्रणाली की ओर उँगली उठाई जाती है, जिससे किसी भी बोली के—चाहे वह हिन्दी-भाषा के क्षेत्र की हो, चाहे बाहर की—विकास को साहित्यिक हिन्दी के प्रचार-प्रसार से बाधा पहुँची है ?

किसी बोली-विशेष में अथवा भाषा-विशेष में—जिसकी ओर सकेत है—आधुनिक साहित्य-रचना यथेष्ट न होने के कारण यदि कोई आशकित हो उठे कि धीरे-धीरे कही वह बोली या भाषा लुप्त न हो जाय, तो ऐसो से यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि उनकी यह आशका या धारणा बिल्कुल निर्मूल है। साहित्य का बोली के लिये महत्त्व होते हुए भी अनुभव यही बताता है कि कोई भी बोली अपने जीवन के लिये साहित्य की मोहताज नही। किसी भी बोली को ले लीजिये। कितना ही पुराना उसका साहित्य क्यों न हो। लेकिन क्या कोई कह सकेगा कि यदि वह साहित्य उसमें न होता, तो उस बोली का आज अस्तित्व ही न होता ? स्थानीय जन-सख्या की शिक्षा और अशिक्षा का अनुपात सिद्ध कर देता है कि कोई भी बोली अपने साहित्य के पढने वाले गिने-चुने शिक्षितो के बाहुबल के सहारे नहीं, बल्कि पढी या बेपढी सारी जन-सख्या

के सहारे ही जीवित रहती चली आई है। तव शायद दूसरी आशका यह हो कि साहित्य-सृजन के विना उसके रूप में स्थिरता न आ सकेगी। यह आशका या स्थिरता देखने की अभिलाषा तो और भी अनहोनी-सी चीज़ है, क्योकि किसी भी वोली का निरन्तर परिवर्त्तन—जिसे भाषा-विज्ञान विकास कहता है—नैसर्गिक नियम है। साहित्य रचा जाय या न रचा जाय, विकास-जन्य परिवर्त्तन तो होगे ही।

चारो ओर से उग्र रूप में उठनेवाली 'वोली-ससार' की यह वसुरी आवाज़, प्रत्येक वोली का भाषा कहलाने का नया शौक, इस वात का सकेत है कि किसी अज्ञात कारण से लोगो को 'वोली' सज्ञा कुछ हीनतासूचक-सी जान पडने लगी है। ऊपर वताये गए भाषा और वोली के पारस्परिक सम्वन्ध के अनुसार तो यह नया जोश कुछ उस अज्ञानी वालक के उत्साह-सा लगता है, जो 'पुर और देश' का भेद न जानने के कारण हठ करने लगे कि वह अपने नगर 'कानपुर' या 'नागपुर' को भारतवर्ष की ही तरह 'कानवर्ष' या 'नागवर्ष' कहेगा। ववििघ वोलियो के भाषा कहलाने के इस नये उत्साह का प्रत्यक्ष कारण यह है कि हिन्दी के 'साहित्यिक रूप' से घनिष्ठ सम्वन्ध होते हुए भी वे अपने को उसका आधार नही पाती। इससे उन्हें निराशा होती है और उन्हें अपनी हीनता या उपेक्षा की आशका होती है, किन्तु यह कोरी भ्रान्ति से अधिक कुछ नही है, क्योकि विचारपूर्ण विवेचना स्पष्ट वता देगी कि हिन्दी के क्षेत्र की कोई भी वोली अपने मूल रूप में 'साहित्यिक-हिन्दी' नही मान ली गई है। उत्तर-पश्चिम के कुछ ज़िले (विजनौर, मेरठ, अम्वाला इत्यादि) की वोली का—जो खडीवोली कहलाती है—मूल ढांचा ही साहित्यिक हिन्दी के लिए ले लिया गया है। किन्तु परिष्कार की खटाई में ढालकर वह इतना अधिक मांज डाला गया है कि अव हिन्दी की कोई भी वोली उसमें अपना प्रतिविम्व साफ देख सकती है। मॅजने-मॅजते साहित्यिक हिन्दी का यह रूप इतना अधिक निखरता चला आ रहा है कि हिन्दी भाषा की अपनी विविध वोलियो की कौन कहे, शायद वह दिन भी दूर नहीं, जव देश की अन्य विविध भाषाओ को भी उसी में अपना प्रतिविम्व साफ दिखाई पडने लगेगा। तेज़ी से ढलनेवाला इन भाषाओ का आधुनिक साहित्यिक रूप उपर्युक्त भविष्यवाणी का ज्वलन्त प्रमाण है। वॅगला या गुजराती के साहित्यिक रूप को भी

साहित्यिक हिन्दी का रूप दे देना प्राय. वैसा ही सरल होता जा रहा है, जैसा कि ऊपर राजस्थानी का उदाहरण देकर दिखाया जा-चुका है।

यदि देश का राष्ट्रीय भविष्य उज्ज्वल है, तो वह युग दूर नही, जब भारतीय नवयुवक सम्पन्नता एव स्वच्छन्दता के वातावरण में प्रान्तीयता के ओछे गर्व से ऊपर उठ जायगा। उस समय आश्चर्य नही, यदि देश की अन्य बोलियाँ पूर्वकालीन प्राकृतो की भाँति अपने-अपने क्षेत्र में फूलती-फलती रहें और परिष्कृत रूप में हिन्दी की साहित्यिक सम्पदा भारत के स्वर्ण-युग की 'सस्कृत' की भाँति देश में सर्वत्र सुलभ रहे।

साधारण बोलचाल (अर्थात् प्राकृत) तथा साहित्यिक (अर्थात् सस्कृत) रूपो में भेद ससार की प्रत्येक भाषा में ही अनादि काल से चला आ रहा है। शिक्षा, सस्कृति एव सभ्यता की आवश्यकताओ के कारण भाषा-क्षेत्र का यह प्रयोग एक अनिवार्य क्रिया है। कदाचित् यह चेतावनी भी असगत न होगी कि किसी स्थान-विशेष की कोई बोली यदि किसी प्रकार स्वतन्त्र सत्ता का रूप धारण कर भी ले और चाहे कि अपने साहित्य का सृजन करके पूर्ण स्वाधीन हो जाय, तो उसे भी अपना एक 'परिष्कृत रूप' धारण करना ही पडेगा और विशुद्ध एकरूपता का दावा व्यर्थ हो जायगा। बिना यथेष्ट परिष्कार के कोई भी बोली साहित्य-सृजन का माध्यम नही हो सकती। 'ब्रजभाषा' ही कई सौ वर्षो तक हिन्दी-क्षेत्र के विस्तृत जन-समुदाय के मानसिक एव साहित्यिक खज़ाने की कुजी बनी रही। सूर, तुलसी, नन्ददास और न जाने कितने प्रतिभावान साहित्य-स्रष्टाओं द्वारा अमूल्य एव अलौकिक रत्नो की सृष्टि इसी में हुई, लेकिन क्या कोई भी विद्वान् यह कहने का साहस करेगा कि साहित्य की यह ब्रजभाषा ठीक वही थी, जो बोलचाल की थी? जब यह द्विरूपता भाषा-क्षेत्र का नित्य धर्म एव नियम है, तो आज की हिन्दी के प्रति ही यह शिकायत क्यो? भाषा के 'साहित्यिक रूप' के समर्थन का यह अभि-प्राय नही कि उसके प्राकृतिक रूप में साहित्य-सृजन नही हो सकता या नही हुआ है। वह अवश्य होता रहा है, आज भी हो रहा है और भविष्य में भी होगा। परन्तु इनपर विचार करते समय भावोन्मेष की अपेक्षा गम्भीर चिन्तन की अधिक आवश्यकता है।

यहाँ 'साहित्य' शब्द अथवा उसकी सामग्री के तात्त्विक विवेचन की आवश्यकता तो नही; लेकिन इस सम्बन्ध में भी दो मत नही हो सकते

कि शुद्ध 'रसात्मक' या 'कलात्मक' रचनाएँ ही साहित्य की सारी पूँजी नही, वरन् उसका एक वहुत वडा भाग व्यावहारिक ज्ञान को लेकर रचा जाता है, जिसे बौद्धिक साहित्य कहते है। या यो कहना चाहिए कि 'रसात्मक' साहित्य यदि 'दिल' की चीज़ है, तो 'व्यावहारिक' या 'बौद्धिक' साहित्य दिमाग की। इन दोनो के साध्य, साधन तथा लक्ष्य भी भिन्न होते हैं। भारत के प्राचीनतम साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि विविध प्राकृतो में जितना भी साहित्य रचा गया, वह 'रसात्मक' या 'कलात्मक' ही था (और प्राकृतों में कही-कही तो इस कोटि का साहित्य वेजोड हो उठा है), लेकिन 'दिमागी' या 'बौद्धिक' साहित्य के लिए सस्कृत की ही शरण प्राय लेनी पडती थी। हिन्दी के युग का भी प्राचीन या मध्यकालीन सारा साहित्य प्राय रसात्मक पद्यमय और विविध वोलियो में ही है। हाँ, ज्यो-ज्यो व्रजभाषा मँजती गई, पद्य-साहित्य के माध्यम के लिये वह अधिक उपयुक्त होती गई और सैकडो वर्पो तक हिन्दी-क्षेत्र के मानसिक योग-दान का साधन भी वनी रही। परन्तु भूलना न होगा, कि सैकडो वर्पो का यह साहित्य मुख्याश में 'रसात्मक' या 'कलात्मक' ही है, अन्य विपयो की चीजें इनी-गिनी ही होगी। यह वात केवल व्रजभाषा-साहित्य के लिये ही नही, वरन् उन सारी वोलियो के लिये भी सत्य है, जिनमें प्राचीन साहित्य की स्थिति मानी जाती है। कोई भी वोली अथवा भाषा इसका अपवाद नही।

परन्तु व्रजभाषा के उस विराट युग में भी अन्य वोलियो में लोग गाते, हँसते और रोते ही थे तथा चुहलवाजी और ठठोली भी करते थे। क्यो न करते, जब कि सच्चा रोना, सच्चा गाना और सच्चा हँसना दिल की वोली में ही सम्भव होता है और घरेलू वातावरण में ही वन पडता है, कृत्रिम जीवन इनके अनुकूल नही। लेकिन यह भी तो कम सत्य नही कि आज का यह युग दिल की अपेक्षा दिमाग की सत्ता का अधिक कायल है। 'दिमागी इश्क, दिमागी कूवत, दिमागी वर्जिश इत्यादि की इस दिमागी दुनिया में दिल के लिये जगह ही कहाँ है और अगर है भी तो कितनी? इसीलिये इसे गद्य का युग कहते है। हिन्दी के कर्णधारो को इस आनेवाले युग की सूचना मिल चुकी थी और उन्हें यह देखते देर न लगी कि गद्य-साहित्य के लिये व्रजभाषा या अन्य किसी वोली की अपेक्षा

खडी बोली का ढाँचा ही अधिक काम का होगा, और उन्होंने उसे बेखटके ले लिया तथा माँजकर अपने काम का बना लिया। नवयुग का यह दिमागी या बौद्धिक साहित्य अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रवाहपूर्ण, समर्थ एव व्यापक अर्थोवाली शब्दावली की अपेक्षा करता है, जिसका निर्माण काल, विनिमय, सघर्ष तथा पुष्ट परम्परा के साथ हुआ करता है। यह एक लम्बी साधना है। इसके लिये खरी स्वाभाविकता का मोह छोडना पडता है, कृत्रिमता-पाश के आवश्यक बन्धन सहर्ष स्वीकार करने पडते है, भावो का नित्य नवीन रूपो के साँचे में ढलकर हँसते-हँसते अग-भग करवा देना पडता है, तब कही 'साहित्यिक रूप' का वरदान मिलता है। यह व्यापार बहुत सस्ता नही और न कम कष्टसाध्य ही है।

हिन्दी की किसी भी बोली अथवा भारत की किसी अन्य अचलीय भाषा में आधुनिक साहित्य की अनुपज का कारण हिन्दी को समझकर उसे उसकी उन्नति या विकास का बाधक समझना अनुचित भ्रम है। किसी बोली या भाषा की साहित्य-सृष्टि किसी व्यक्ति या सस्था की इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर नही हुआ करती, वरन् वह तो उसकी निजी योग्यता एव सामयिक प्रेरणा के अनुसार ही हुआ करती है। हिन्दी की विविध बोलियो तथा अन्य हिन्दीतर हमारी भाषाओ का, प्राचीन साहित्य, जिसका उल्लेख बार-बार किया जाता है, प्रधानत रसात्मक ही था और उस कोटि का साहित्य आज भी रचा ही जाता होगा तथा भविष्य में भी रचा जायगा। उनकी अपनी कहावतो एव पहेलियो की सृष्टि होती रही है और सदा होती रहेगी। परन्तु जिसे दिमागी या बौद्धिक साहित्य कहा गया है, उसका सृजन सभी बोलियो में अथवा सभी भाषाओ में देखने की आशा सदिच्छा से अधिक और कुछ नही है। इस समय सारी भारतीय भाषाओ में हिन्दी ही सबसे अधिक प्रगतिशील तथा युग-प्रवाह के साथ चलनेवाली मानी जाती है। सस्कृत का प्राचीन साहित्य तथा आधुनिक ससार के बौद्धिक योगदान का जितना अश हिन्दी के कोष में आ चुका है, उतना अभीतक अन्य किसी भी भारतीय भाषा को प्राप्त नही हुआ। किन्तु इतने पर भी आए दिन हमारे विद्वान एव आचार्य यही कहते सुने जाते हैं कि ससार के साहित्य का तो प्रश्न ही क्या, अङ्गरेजी के मुकाबले में भी हिन्दी-साहित्य अभी बहुत पिछडा हुआ है और भाषा की कमजोरी

बोलने वालो की सख्या के आधार पर शायद किसी अन्य प्रान्तीय भाषा को अपना दावा पेश करने का भी मौका मिल जाय और भाग्य खुल जायँ! किन्तु यह दुराशा व्यर्थ है, क्योकि सभी प्रातीय भाषाएँ बोलियो के समूह पर ही निर्भर हैं, अत उस प्रकार का विभाजन तो वहाँ भी हो जायगा। इसके अतिरिक्त खाली राष्ट्रभाषा का सेहरा पहनने से ही तो कुछ न होगा? उनमें यह योग्यता, वह व्यापकता तथा वह सेवापटुता कहाँ से आयगी, जो एक लम्बी परम्परा के बाद हिन्दी में आई है। तीसरा दल कुछ उन भोलेभाले व्यक्तियो का है, जिनमें ज्ञान और विवेक की अपेक्षा जोश अधिक है, जिसके कारण छोटी-से-छोटी वास्तविक या काल्पनिक आशका भी उन्हें विचलित कर देती है, और वे घबरा जाते हैं। अन्यथा इस दिशा में न तो किसी आन्दोलन की गुजाइश है, न असमय विप्लव की आवश्यकता। हमें आशा है, देशवासी अपनी विवेक-बुद्धि से काम लेंगे और जल्दबाज़ी में अपने पाँवो पर ही कुल्हाडा न चला बैठेंगे।

—अप्रैल, १९४४

यश अपयश विधि हाथ

आज का हिन्दी ससार हिन्दुस्तानी भाषा के नाम से ही चिढसा गया है। ज्यो-ज्यो महात्मा गाधी तथा उनके हिन्दुस्तानी सघ वाले इस शब्द को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करते है, त्यो-त्यो हिन्दी के भक्त और उपासक इन शब्द को अधिक घृणास्पद एव त्याज्य समझते जाते हैं। शायद बहुतो के लिये, विशेषकर अहिन्दी भाषा-भाषी के लिये हिन्दुस्तानी शब्द नये जमाने की एक खोज है। इसका भी इतिहास किसी प्राचीनता का दावा कर सकता है, वह बहुतो के लिये एक नये आविष्कार से कम नही। लेकिन, आश्चर्य तो तब होता है कि हमारी भाषा का यह नाम काफ़ी प्राचीन होते हुए भी सम्मानित न होकर आज बुरी तरह अपमानित हो रहा है और हिन्दी का विद्वत्समाज इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न भी नही करता।

समझना तो यह होगा कि हमारी भाषा का यह हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम कब कैसे और क्यो पडा ? यदि यह रहस्य सक्षेप में समझा दिया जाय तो वेसर-पैर की गुमराही बहुत कुछ दूर हो सकती है। यह कौन नही जानता कि प्राचीन समय में, जब भारतवर्ष अपनी विद्या तथा अपने कला-कौशल के लिये विश्व-विख्यात हो रहा था, उन समय पाश्चात्य के विविध देशों में इस गौरवशाली भारत के साथ अपना-अपना सम्बन्ध जोडने में एक होड-सी मची हुई थी। उन्ही में से अरब भी एक था, वहाँ के प्राचीन ग्रथ प्रचुर प्रमाणो से भरे पडे हैं कि अरब वालो का सम्बन्ध हमारे देश से काफी घनिष्ट था। न केवल व्यावसायिक क्षेत्र में वरन् विद्या और बुद्धि में अरब ने भारत से बहुत कुछ पाया था। वहाँ के प्राचीन इतिहास ग्रथो में भारतवर्ष का निर्देश प्राय 'हिन्द' के नाम से ही पाया जाता है। मौलवी सैयद सुलेमान नदवी साहब ने, जो अरबी साहित्य के परम सम्मान्य

विद्वान माने जाते हैं, अपनी अनेको कृतियो में प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि अरब वाले इस देश को हिन्द कहते थे, यहाँ की प्रत्येक वस्तु को, यहाँ के निवासियो तथा उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को हिन्दी कहते थे। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना कदाचित् अनावश्यक न होगा कि अरबवालो का सम्बन्ध विशेष रूप से केवल उत्तर भारत से ही था अत जिस समय भाषा का प्रश्न उठता है, उस समय यह समझ लेना होगा कि होगा कि हिन्दी भाषा से उनका सम्बन्ध उत्तर भारत की भाषाओ से रहा होगा। यद्यपि उस प्राचीन काल में सस्कृत का महत्व मिट तो नही गया था, किन्तु यह भी सच है कि आधुनिक भारतीय भाषाएँ विशेषकर उत्तरी और पश्चिमी भारत की, न केवल विकासोन्मुखी ही हो चली थी, वरन् अपना-अपना अस्तित्व भी कायम कर चुकी थी। अत अरबो की भाषा-विषयक हिन्दी सज्ञा से तात्पर्य निश्चित रूप से इन्ही नवविकसित भाषाओ से रहा होगा।

अरबो के बाद ईरान और तुर्क देश के निवासियो का सम्बन्ध इतिहास-सिद्ध घटना है। यह नवीन सम्पर्क सास्कृतिक या व्यावहारिक क्षेत्र में भले ही नवीन रहा हो, लेकिन भाषातत्ववेत्ता यह जानता है कि फारसी आर्य भाषा की शाखा होने के नाते अपनी बडी बहन सस्कृत से बहुत प्राचीन काल से सम्बद्ध है। फारसी का 'स्तान' और सस्कृत का 'स्थान' एक दूसरे से बहुत भिन्न नही। सस्कृत का 'सिन्धु' ही फारसी का 'हिन्दू' है। इस नए सम्बन्ध ने छोटे से 'हिन्द' नाम को बदलकर ईरानियों के द्वारा 'हिन्दुस्तान' नाम प्रख्यात किया। और पहले की ही भाँति यहाँ की प्रत्येक वस्तु और भाषा हिन्दुस्तानी कहलाने लगी।

हिन्दी का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इडिया (सख्या ९ भाग १) में डा० ग्रियर्सन ने उत्तरी भारत की हिन्दी भाषा, उसकी बोलियो तथा नाम की आलोचना करते हुए पग-पग पर हिन्दी के साथ 'हिन्दुस्तानी' नामका ज़िक्र किया। अनेक कैफियतें भी उन्होने दी है। उसी सिलसिले में अपना मत प्रकट करते हुए उन्होने कहा है कि 'हिन्दोस्तानी' सज्ञा विशेषकर सरहिन्द में प्रचलित हिन्दी के उस रूप के लिये, जिसे खडी बोली कहा जाता है, लागू होना चाहिये। इसी सिलसिले में उन्होने माना है कि हिन्दुस्तानी में 'उर्दूपन' का होना अनिवार्य है।

उनके इस उर्दू प्रेम का कारण शायद 'डेविड मिल' का वह व्याकरण होगा जो न शुद्ध रूप में व्याकरण कहा जा सकता है और न उसके पीछे भाषा की किसी व्यापक समीक्षा का प्रमाण है। प्राय सभी यह जानते हैं कि खडी बोली 'बोली' के रूप में अथवा यो कहना चाहिए प्राकृतिक रूप में बिजनौर, मेरठ, अम्बाला, सहारनपुर इत्यादि सयुक्त प्रान्त के पश्चिमोत्तर भाग में व्यवहृत होती है। न केवल आज से, वरन् शायद उसी समय से जब से कि ब्रज-भाषा ब्रज, में या अवधि अवध में बोली जाने लगी थी। इसी स्थल पर 'हिन्दोस्तानी' नाम की व्याख्या करते हुए पृ० ६ से पृ० ८ तक में डा० ग्रियर्सन ने 'डेविड मिल' के हिन्दोस्तानी व्याकरण की, जो १७४३ के लगभग लिखा गया था, चर्चा की है। और उनका अनुमान था कि हिन्दी के हिन्दोस्तानी नाम का कदाचित् इससे अधिक प्राचीन कोई प्रमाण प्राप्त नही। उपर्युक्त पुस्तक के ही आधार पर डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कुछ वर्ष पूर्व 'हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण' शीर्षक एक खोजपूर्ण लेख लिखा था। उनके अनुसार यह व्याकरण कुछ और अधिक प्राचीन ठहरता है। और उसी अनुपात में हिन्दी का हिन्दोस्तानी नाम भी कुछ वर्ष और पीछे हट जाता है। इसके बाद अपनी अभी की हाल की लिखी पुस्तक 'हिन्दी एण्ड इण्डो आर्यन लैंग्वेजेज' में उन्होने भी डा० ग्रियर्सन की ही तरह प्रतिपादित किया है कि हिन्दोस्तानी में 'उर्दूपन' के पुट की विशेषता आवश्यक है। सम्भवत. इनका यह भ्रम भी डेविड मिल के व्याकरण के आधार पर ही हो, या कुछ और ऐसी सामग्री भी इसके लिए जिम्मेदार हो सकती है, जो वैसी ही भ्रामक हो।

लेकिन जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी भाषा का हिन्दोस्तानी नाम योरोप की देन नही। यह तो ईरानी और तुर्कों की सस्कृति और उनकी भाषा के हमारे साथ पारस्परिक साम्य के साथ ही अनायास उत्पन्न हो गया था। इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि बाबर ने भी अपने जीवन चरित्र में बडे स्वाभाविक ढग से सरहिन्द में बोली जाने वाली लौकिक-भाषा के लिये 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग किया था। वहाँ के शासक दौलतखाँ पर फतह पाने के बाद जब दौलतखाँ उनके सामने लाया गया, तो वह कहता है—"I have made him sit down before me and desired a man who understood the Hindustani language to explain to him what I said sentence by sentence

in order to reassure him." (Memoirs of Babar Lucas King edition Vol 2, P P 170) इससे यह सिद्ध है कि हिन्दुस्तानी नाम ईरानियो और तुर्कों के साथ १५ वी और १६ वी शताब्दी में ही आ चुका था। उस समय न शर्त थी फारसी या अरबी शब्दो की भरमार की और उर्दूपन की, क्योकि उस समय तक तो उर्दू का तो कही अस्तित्व भी न था।

अत यह स्पष्ट हो जाता है कि सैकडो वर्ष तक प्रसरित क्या मध्य और क्या आधुनिक काल तक हिन्दी अपनी स्वाभाविक गति से आगे वढती हुई हिन्दी या हिन्दुस्तानी दोनो ही नामो से विभूपित थी। अपने जन्म-काल से ही उर्दू, उर्दू ही रही, शायद कोई प्रमाण १६३० के पहले का प्रस्तुत नही किया जा सकता, जव उर्दू का स्मरण किसी और नाम से किया गया हो, या हिन्दुस्तानी का जामा उसने पहनने की चेष्टा की हो। हिन्दी की प्रतियोगिता उसकी पुरानी आदत रही । वालमुकुन्द गुप्त की 'उर्दू को मुहतोड जवाब' उसी अवाछनीय प्रतियोगिता का फल था।

तव सहसा प्रश्न उठता है कि आज की परिस्थिति में ऐसा क्या परि-वर्तन हो गया कि हम हिन्दुस्तानी नाम को भी सहन नही कर सकते ? शायद १६२४ की ही वात है, जव कानपुर के अपने अधिवेशन में कांग्रेस ने भाषाविषयक अपनी नीति की घोषणा की थी और कहा था कि चूंकि कांग्रेस राष्ट्रीय सस्था है, जनसाधारण की भाषा ही उसकी भाषा होगी। वहुत समय तक तो यह नीति केवल प्रस्ताव तक ही सीमित रही। लेकिन ज्यो-ज्यो काग्रेस प्रबल होती गई, उसके प्रस्ताव और उसके निर्णय भी अधिक वास्तविक होने लगे। नीतिविषयक भाषा का यह प्रस्ताव भी फिर नवजागृत किया गया। सत्य के पुजारी गाधी जी इस प्रस्ताव के प्रवल समर्थको में से थे। जहाँ एक ओर प्रातीयता के रोगी भयभीत होने लगे, दूसरी ओर साम्प्रदायिकता के उपासक मुसलमानो के दिलो में भी कम खलवली नही थी। अपनी अन्य अराष्ट्रीय सकीर्णताओ के साथ भाषा के क्षेत्र में भी उनकी अनुदारता प्रबल हो उठी। हिन्दी को हिन्दुओ की भाषा घोषित करके उन्होने उर्दू की माग पेश की। सत्य तो यह था, जैसा ऊपर वताया जा चुका है, कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी देशी भाषा के उस रूप का नाम था जो उत्तर भारत में स्वच्छन्द रूप से फल-फूल रही थी, जिसमें न भेद था हिन्दू का न मुसलमान का। न आग्रह था सस्कृत के लिए

और न बहिष्कार था फारसी या अरबी का। लेकिन पार्थक्य की इस नई माँग ने संकीर्णता की, साम्प्रदायिकता की एक नवीन अराष्ट्रीय भावना को जन्म जरूर दे दिया। और हिन्दू-मुस्लिम एकता के अनन्य पुजारी गांधी जी के सामने भाषा की एक नई समस्या खडी हो गई। राजनीति के अन्य क्षेत्रो में एकता की साधना का मूल पारस्परिक आदान-प्रदान ही हुआ करता है, और होना ही चाहिये। बिना कुछ दिए लेना सम्भव नही होता और लेने के लिए देना भी आवश्यक हो जाता है। समझौते की यह नीति राजनीति-क्षेत्र में अवश्य सफल होती है, लेकिन ज्ञान के, शिक्षा के और आत्मोन्नति के क्षेत्र में यह नुस्खा न कभी लगाया जा सकता है और न लगाया जाना चाहिये। लेकिन, दुर्भाग्यवश राजनीति के अखा-ड़िए इस मर्म को न समझ सके और समझौते की नीति वाला नुस्खा दे ही दिया गया। 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' जैसी संस्थाओं का जन्म तो हो चुका था, जिसके संचालन और कर्णधार हिन्दी से कोरे उर्दू क्षेत्र में अज्ञात अवसरवादी इसी ताक में बैठे थे कि किस प्रकार अपनी लीडरी कायम की जाय। संयुक्त प्रांत की सरकारी निधि के बल पर उन्हें कम से कम ऐसी सुविधाएँ प्राप्त थी ही कि 'मस्तिष्कीकुव्वत' जैसे अस्वाभाविक मुहावरे ढालकर प्रचारित किए जायं और राम और रहीम दोनो की उपासना का स्वांग रचा जाय। तुरंत १९३९ के लगभग एक सुझाव पेश किया गया कि यदि हिन्दी के नाम से मुसलमानो को चिढ है और उर्दू के नाम से हिन्दुओ को तो इन दोनो नामो को छोडकर राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' क्यो न रखा जाय और उसके प्रचलित स्वरूप में शब्दो के प्रयोग साम्प्रदायिक अनुपात में ही लाए जायें। इस सुझाव की स्वीकृति के पीछे नीति थी समझौते की और आज उसी का परिणाम है कि हिन्दुस्तानी अपनी वर्तमान 'अप्रतिष्ठा' को प्राप्त हो गई।

'ये केहि काज दाहिने बायें ?

स्वतन्त्रता क्या ही मादक पदार्थ है। भले ही कविवर बिहारी लाल 'कनक' की सराहना किया करे, उसकी मादकता को 'पाये ही बौरात' कह-कर सर्वोच्च मानने की चेष्टा किया करे, किन्तु स्वतन्त्रता के युग में वे बेचारे थे ही नही, इसको वे जानते ही क्या ? नही तो उन्हें कहने में शायद ही कोई सकोच होता कि यह वस्तु तो वह है, जिसे कहना चाहिये 'बिनु पाये बौराय'। इस महासत्य की कसौटी के लिये फिलहाल एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। राष्ट्र की भाषा के प्रश्न को ही लेकर देखिये, जब न था सूत और न थी कपास तभी से जुलाहे लठालठी करने लगे थे और यह द्वन्द्व सूत-कपास की झांकी मात्र के देख लेने से ही घटने के बदले कुछ इतना अधिक बढ गया कि आये दिन विविध भाषाओ के दैनिक साप्ताहिक, मासिक और शायद 'वार्षिको' के भी पन्ने के पन्ने रँगे रहते हैं। अग्रेजी के वे अखबार जो भारतीय भाषा और साहित्य के नाम से ही नाक-भौं चढाया करते थे, आज के राष्ट्र के द्वारा स्वीकृत हिन्दी के विरोध में कलम घिस रहे हैं, ऍडी-चोटी का पसीना एक किए दे रहे है। 'राम-राम' न सही 'मरा-मरा' ही सही, हिन्दी का नाम जप तो रहे हैं। अपने इस उत्साह में आज उन्हें अग्रेजी का वह पुराना वाक्य भी शायद भूल सा गया है जिसमें एक बहुत बडे विचारक ने कहा था कि यदि किसी के व्यक्तित्व का बडप्पन तौलना हो तो उनके विरोधियो की सख्याओ को गिन लो। उसने ठीक ही तो कहा था, जो महान होते हैं, जिनका अस्तित्व अपनी विशेषता रखता है, उन्ही का विरोध भी अधिक हुआ करता है, क्योकि कमजोर और सकुचित हृदयो में वह महान व्यक्तित्व भय का सचार कर दिया करता है और विरोधी दल विचलित हो उठता है। निरीह कमजोर

श्रौर नगण्य तुच्छ व्यक्तित्व वाले विरोध के अधिकारी ही कहाँ होते है ? और हो भी क्यो ?

कुछ लोग हिन्दी के विरोधियो से शायद चिढ़ भी जाते हैं। लेकिन, चिढना क्यो चाहिए ? जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रसिद्ध डकैत 'मरा' 'मरा' जपकर ही तो प्रसिद्ध रामभक्त वाल्मिकि हुआ था। रावण ने भी भी तो प्रेमयोग के द्वारा नही, वरन शत्रुतायोग के द्वारा ही राम की भक्ति प्राप्त की थी। तो आज ही ऐसा क्या हो गया है कि हम यह विश्वास न कर सकें कि ये गुमराह हिन्दी के विरोधी विरोध-मार्ग से ही एक न एक दिन सन्मार्ग पर न आ जायेंगे। और हमें तो यह शेर याद आता है कि—

"गो दुश्मनी से देखते हैं,
देखते तो हैं,
मैं शाद हूँ कि हूँ तो
किसी की निगाह में"

जरा देखना चाहिये कि विरोध करने वाले हैं कौन ? और, विरोध करते क्यो है ? गहमरी जी की ऋद्धि और सिद्धि वाली गवेपणा-दृष्टि से यदि थोडा सा भी काम लिया जाय तो प्रत्यक्ष समझ में आ जायेगा कि विरोधी दल तीन प्रकार के हैं। सबसे पहले दर्जे के व्यक्ति तो वे हैं जिनकी उम्र पुश्तो से गुलामी में कटी है। वे वेचारे उस पुराने मुजरिम कैदी की तरह हो गए हैं जो वीसो साल जेलखाने की काल कोठरी में रहने के वाद जव छोडा गया तव उसके वर्षो के अन्धकार-प्रेम ने उसे प्रकाश में रहने के योग्य ही नही छोडा था और वह वारम्वार दोहाई दे-देकर उसी काल कोठरी में रहने दिए जाने की भिक्षा माग रहा था। इस कोटि के व्यक्ति देश की स्वतन्त्रता को समझने में ही असमर्थ हैं। गुलामी का एक नैसर्गिक गुण वुजदिली भी तो हुआ करता है। उसी के मारे वेचारे आज खुलकर कहने का साहस तो नही करते, कि हम अंग्रेजी राज्य में ही रहना चाहते हैं, लेकिन, 'येन केन प्रकारेण' दोहाई देकर उसी की 'खैराफियत' मनाया करते हैं और पानी पी-पी कर हिन्दी को कोसा करते हैं।

दूसरा दल कुछ उम्र के हिसाव से है। इसमें न कैद स्त्रियो की है, न पुरुषों की। मानव जीवन का एक अटूट सिद्धान्त अनादि काल से रहा है—जिसका मूल उसके स्वभाव में ही है। अनायास ही उसकी प्रवृत्ति

इस सिद्धान्त से परिचालित होती रही है। भले ही वह उससे परिचित या अपरिचित रहता हो। लेकिन विचित्रता यह है कि उसके स्वभाव की इस विचित्रता का जिक्र करते ही वह चिढ जरूर जाता है। इस कथन का तात्पर्य है, मानव जीवन की 'जन्मजात काहिली' से। वह पैदाइशी काहिल है। साहित्यिक भाषा में उसको 'आराम-पसन्दगी' कह सकते है। लेकिन यह काहिली के अतिरिक्त और कुछ है नही। इसमें सदेह की भी गुजाइश नही। देखिये न, यदि मनुष्य जन्म से ही काहिल न होता तो ससार के जितने भी आविष्कार हुए हैं, क्या वे सभव होते ? तार, बिजली, रेल, ग्रामोफोन, रेडियो, मोटर यहाँ तक हवाई जहाज भी—ये आविष्कार मनुष्य ने क्यों किए ? आराम के लिए ही तो ? कहने को, भले ही वह कहता रहे, कि इसमें उसकी बुद्धि के प्राचुर्य की प्रेरणा थी, या उसका सहज विज्ञान-प्रेम था, या उसका जी चाहे तो अमेरिकनो की तरह 'स्पीड' या जर्मनों की तरह 'एफिशियेन्सी' की ही दुहाई देता रहे, किन्तु तह में ईमानदारी बतायेगी कि यदि इन आधुनिक आविष्कारो के पीछे कोई नैसर्गिक प्रेरणा थी—तो वह थी उसकी, 'अजेय' काहिली। इस प्रवृत्ति का एक गुण यह भी है कि ज्यो-ज्यो मनुष्य की उम्र बढ़ती जाती है, त्यो-त्यो यह प्रवृत्ति भी अधिक प्रबल होती जाती है। २५-३० वर्ष के बाद तो इन्सान की यह काहिली गले का जजाल ही बन जाती है। हिन्दी के विरोधी दूसरे दल के लोग वे हैं जिनकी अवस्था २५ और ३० को पार कर चुकी है। उनकी काहिली उन्हें मजबूर किये हुए है और नया कुछ भी सीखना, वह कितना ही उपयोगी क्यो न हो, उनके वश से बाहर होता है। और, बरबस बेचारो को हिन्दी का विरोध करना पडता है। क्योंकि, अब तो काम केवल उसी और उतने ही ज्ञान से चलाना है जो प्राप्त हो चुका है। यदि कोई इसका प्रमाण पूछे, तो उससे कहना होगा कि वह जाकर देख ले—किसी क्षेत्र में वहाँ के किशोर और २०-२२ साल के पट्ठे किसी भी नई चीज को सीखने के लिए उत्सुक रहते हैं। हिन्दी ही क्यो, कोई भाषा भी सीखना पडे उन्हें कोई बाधा नही। उनका कोई विरोध नही, क्योकि, काहिली का शिकजा अभी तक उनपर ढीला ही रहता है।

तीसरा दल पहले और दूसरे के गुणो और अवगुणो से तो विभूषित है ही, बरन् उनके अतिरिक्त भी अपनी अनेक विशेषताए धारण किये हुए

की लहरो से आप्लावित है। 'डेमोक्रैसी' का बोलवाला है। तो वह ये दलीलें अपने काम में क्यो न लाए? यह भी वह जानता है कि निरक्षरो का यह देश, बाहर कहाँ क्या होता है और क्या नही होता, यह जानता ही कहाँ है। सैंकडो वर्ष तक न केवल अग्रेजो का या अग्रेजियत का ही यहाँ राज रहा है वरन् पछाही हवा की एक-एक लहर यहाँ सत्ता जमा चुकी है। इसलिए उन्ही देशो की मन गढन्त परम्पराओ का हवाला देते हुए जो कुछ भी कह दिया जाय भारतीयो को प्रभावित करने के लिये वह अमोघ अस्त्र होगा। बस, वह कहने से नही हिचकता कि समाजवाद और साम्यवाद का ठेकेदार रूस, अपने यहाँ ६१ भाषाओ को राज्य एव राष्ट्रभाषा माने बैठा है। बित्ते भर का स्विटजरलैण्ड २३ भाषाओ को समानाधिकार दे चुका है, इत्यादि-इत्यादि। राहुल साकृत्यायन वहाँ रहकर देख-सुनकर भी इस लचरता का प्रतिवाद करते हैं, किया करे लेकिन यह अग्रेजी 'गप्पनवीस' बक़ौल एक शायर के कि

जबाँ है जिसकी
इशारे से वो पुकारे है,
ये है गूगा प' खडा
फारसी बघारे है।"

अपनी कहे चला जाएगा। इसवर्गकी 'डेमोकेसी' बकौल बर्नार्डशा के "वह है कि जिसमें विचार स्वातन्त्र्य की छूट भी अवश्य रहनी चाहिये, किन्तु वह भी केवल अपने लिये।'—रही बहुमत की बात—जो 'डेमोक्रैसी' का मूल सिद्धान्त है—वह तो इनकी 'हिपोक्रैसी' के एक झटके में छिन्न-भिन्न हो जाती है। उन पहली कोटि वाले चिर दिमागी गुलामो का आर्तनाद और उन द्वितीय श्रेणी के प्रौढ वयस्क काहिलों का आन्तरिक चीत्कार इनके स्वार्थ पूर्ण कोमल हृदय को प्रतिक्षण हिला दिया करता है और ये 'पतित पावन' आये दिन उनकी रक्षा में कटिबद्ध होकर क्या-क्या नई-नई दलीलें पेश करते देखे जाते है, क्या-क्या नये-नये रग बदलते देखे जाते हैं कि जिन्हें देखकर आसमान भी अपना रग बदलना भूल जाता है। स्वतन्त्रता का अर्थ भी ये अपने ही ढग से नया लगाते देखे जाते हैं। इनकी सबसे बडी शिकायत यह है कि वह भी कोई स्वतत्रता है जिसमें मनुष्य मनमानी-घरजानी न कर सके? वह भी कोई स्वतत्रता है जिसमें ये अपनी ढपली और अपना राग न बजा सकें? अब इन्हें कौन समझाए!!

"दिल ये कहता है ज़रा और तमाशा देखें"

प्रातःस्मरणीय बापू इस अभागे देश के लिये, आज की गिरी हुई मानवता के लिये, क्या-क्या कर गये, इसकी नाप-तौल आज सम्भव नही। भविष्य का ससार चिरकाल तक उनकी अमरता के गीत गायेगा, इसमें कोई सदेह नही। भारत की भावी सतान उनकी गणना पचीसवें अवतार में भी कर ले तो कोई आश्चर्य नही। आज हम उन्हें याद करते हैं। बात-बात पर उनका स्मरण हो आता है, उनकी कही हुई न जाने कितनी बातें, और कितनी तरह की बातें, जीवन के पग-पग पर हमें स्मरण हो आती हैं, क्योकि, भारतीयो के लिये वे क्या नहीं थे? धर्म, समाज, राजनीति, परिवार नीति सभी में तो उन्ही का सिक्का चलता था और जब कभी जो कुछ भी वे कहते थे वह उनकी लम्बी सूझ-बूझ, सत्य-निष्ठा और अनन्त कल्याण की कामना से कभी खाली नही होता था।

आज जहाँ जनसाधारण उन्हें अपना सब कुछ समझ कर उनको याद किया करता है, वही हमारे नेता भी हर मच से तमाम, तरह-तरह के नये, पुराने आदर्शों और नीतियो को हमारे सामने रखते हुए, पूज्य बापू के नाम की ही दुहाई देते हुये देखे जाते हैं। प्राय इनके हर फ़तवे के साथ यह कड़ी अनायास जुडी रहती है "बापू कहत सुनो भाई साधो।" अगर वे सारे सिद्धान्त, वे सारी नीतियाँ, वर्तने योग्य हैं, सत्य और मानव कल्याण की कसौटी पर ठीक उतरने वाली हैं, तो क्या बिना बापू का पुनीत नाम उनके साथ जोड़े उनका प्रचार नही हो सकता?

अभी उस दिन मद्रास में हिन्दी-प्रचार-सभा के नये भवन का उद्घाटन करते समय हमारे प्रधान मत्री प० नेहरू ने अपनी स्वाभाविक जोरदार भाषा में घोषित किया था कि वे तो राष्ट्र भाषा के लिये पूरा जोर लगा कर हिन्दी नहीं, हिन्दुस्तानी को ही स्वीकृत करायेंगे। क्यो, क्यो? क्योकि 'वह गाधी जी

की इच्छा थी।' उस के पहले वही दक्षिण में एक और उद्घाटन के अवसर पर उन्हें कहने में जरा भी सकोच न था कि वे कल के बने हुये पाकिस्तान को फिर से भारत में मिल जाने वाले ख्वाब को कभी पूरा न होने देंगे, उनके लिये यह असभव कल्पना है। लेकिन, उस समय शायद एक क्षण के लिये वे यह भूल गये कि अन्तिम श्वास तक पूज्य बापू ने पाकिस्तान के अस्तित्व को स्वीकार नही किया था।' और देश का यह विभाजन उनके लिये एक क्षणिक विडम्बना से अधिक कुछ था ही नही। इस अप्राकृतिक एव अमानुषिक विभेद को मिटा देना ही उनकी चिर अभिलापा थी।

यह बात कुछ महीने से अधिक पुरानी नही है। लेकिन अभी एक सप्ताह से अधिक नही हुआ जब माननीय गर्वनर जनरल साहब की लम्बी-चौडी चौबीस हजार की मासिक तनख्वाह पर विधान परिषद मे बहस चली, तो स्वय प्रधानमत्री प० नेहरू जी को यह घोषित करने में लेश भी सकोच न था कि भारतीय राष्ट्र के गौरव को अक्षुण्ण रखने के के लिये यह तनख्वाह बहुत बडी नही समझी जा सकती, वरन् इस पर किसी प्रकार की बहस भी उन्हें इतनी असह्य हो उठी, कि स्पीकर महोदय की शरण लेकर इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछना भी अवैध घोषित कर दिया गया। इस अवसर पर भी बापू के पूर्ण नैकट्य के श्रेय से गौरवान्वित हमारे प्रधान मत्री यह भूल गये कि इस ओर, या ऐसी समस्याओ की ओर प्राय दिये गये अपने वक्तव्यों में पूज्य बापू ने क्या क्या इच्छायें प्रकट की थी। न केवल स्वाधीनता प्राप्त करने के पहले, वरन् १५ अगस्त १६४७ के बाद २३ सितम्बर १६४७ को ही भारत की राजधानी दिल्ली में ही बैठकर बापू ने नि सकोच स्पष्ट शब्दों में अपनी इच्छा घोषित की थी कि वे तो भारत के गर्वनर जनरल को उस छोटी सी कुटिया में निवास करते देखना चाहते हैं जिसमें भारत का अतीत गौरव और पुरुषार्थ योगीश्वरो और मुनीश्वरो के रूप में अनादिकाल से निवास करने का अभ्यासी रहा है। हमारे प्रधान मत्री कदाचित् उस घटना से अपरिचित नही हैं जिसका उल्लेख भी महादेव देसाई ने अपने प्रसिद्ध लेख में किया था कि पूज्य बापू जिस समय दूसरी गोलमेज सभा में भाग लेने के लिये इग्लैण्ड जा रहे थे, उनके कुछ नासमझ भक्तो ने बिना उनकी आज्ञा के उनके ठाट-बाट का सामान एकत्रित कर दिया था, और उनकी भावना यह थी कि बापू भारत जैसे

महान देश का नेतृत्व करने जा रहे हैं; अत उनके उस नेता का साजो-सामान किसी से कम न होने पाये। उनकी इस नासमझी से खिन्न होकर बापू ने कहा था कि मेरे ये भक्त और प्रेमी अपनी इस चेष्टा में यह भूल गये कि मैं उस भारत का नेता हूँ जो किसानो का देश है और, उसके ये किसान अपनी दरिद्रता में अप्रतिम हैं। अत उनका नेतृत्व सच्चे रूप में मैं तभी कर सकूँगा जब वेश-भूषा, रहन-सहन, सभी तरह से मैं उनके जीवन का प्रतीक बनूँ। यह उद्‌गार उनका नया नही था। बेजवाड़ा कांग्रेस में अपने नवीन् रूप को धारण करते समय भी उनकी वास्तविक प्रेरणा यही थी। न केवल गवर्नर जनरल के ही लिये वरन्, देश के मन्त्रि-मडल एव शासक वर्ग के लिये भी, इच्छा-जन्य उनका आदेश था कि उनका रहन-सहन, उनका साजो-सामान, सब कुछ उन्ही आदर्शों के अनुकूल होना चाहिये। किन्तु, आज का हमारा मन्त्रिमडल, हमारे गवर्नर, हमारे सरकारी अफसर कहाँ तक उनकी इच्छाओ की पाबन्दी कर रहे हैं? हमारे प्रधान मन्त्री या राजा जी स्वय उनकी उन चिर अभिलाषाओ की पूर्ति के लिए कितना प्रयास कर रहे हैं? ऐसे अवसरो पर उस महान आत्मा की इच्छाओ को स्वाभाविक ढग से भूल जाना ही कमजोर मानव का सीधा रास्ता है।

न जाने कितनी इस प्रकार की इच्छायें गिनाई जा सकती हैं, जिन्हें, उनके नाम को प्लेटफार्मों पर से रटनेवाले, हमारे नेता भूल जाने में ही अपना कल्याण समझते हैं।

जहाँ तक राष्ट्रभाषा का प्रश्न है, यह सत्य है कि गान्धी जी आज की इस बदनाम हिन्दुस्तानी को भी बर्दाश्त करने के लिये तैयार थे। लेकिन इसका रहस्य किसी से छिपा नही, कि वे इसे उन अमोघ शस्त्रो में से एक समझते थे जिसके द्वारा वे खण्डित भारत को एक बार फिर जोड देने में समर्थ होने का ख्वाब देखते थे। गान्धी जी ने बारबार क्या लिखकर और क्या कह कर अपनी प्रबल इच्छा को स्पष्ट घोषित किया था कि वे किसी शर्त पर, किसी कीमत पर भी अग्रेजी भाषा का भारतीयो पर लादा जाना सहन न कर सकेंगे। किन्तु, उनके द्वारा स्थापित आज के स्वराज में उन्ही के अनन्य भक्त मौलाना आजाद और प्रधान मन्त्री प० नेहरु आये दिन जनता के लिये अग्रेजी की दोहाई अनिवार्य-रूप से देते देख पडते हैं। भूलना न होगा कि मौलाना आजाद उन ख्यातनामा नेताओ

में हैं, जिन्होने क्रिप्स मिशन के सामने अंग्रेजी भाषा का बहिष्कार इस हद तक करना अपना धर्म समझा था कि उन्हें एक दुभाषिये की ज़रूरत पड़ गयी थी। तब ज़रा समझने में असमंजस होता है कि हमारे मान्य नेताओं का एक स्वर से पूज्य गान्धी जी की इच्छाओं के पालन का व्रत, धर्म की प्रेरणा है या ईमानदारी और लोकमत को ताक पर रखकर मनमानी कर सकने की आड़।

(१९४९)

साहित्यसेवियो के द्वारा उपस्थित हो चुकी थी। वह समस्या थी, देवनागरी लिपि की।

आधुनिक युग 'यान्त्रिक युग' कहलाता है। अपनी सारी आवश्यकताएँ हम यन्त्रो की सहायता से पूर्ण करना चाहते हैं। इसकी सार्थकता और निरर्थकता पर यहाँ विचार करना अनावश्यक है। हाँ, इतना तो मानना ही होगा कि प्रिन्टिङ्ग प्रेस का आविष्कार आधुनिक जीवन में बडा उपयोगी सिद्ध हो रहा है। इसके द्वारा नानाप्रकार के कुकृत्य भी सरलता से सध जाते हैं, जिससे यदि कोई चाहे तो, इसे अभिशाप भी कह सकता है। लेकिन यह आविष्कार वास्तव में था मानव-कल्याण के लिए। कल्पवृक्ष की प्रसिद्धि तो यह है कि उसे प्राप्त करके मनुष्य मनवाछित सभी फल प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर कोई व्यक्ति धतूरे की याचना करे तो इसमें कल्पवृक्ष का दोष न माना जाएगा, वरन् ऐसे याचक को ही अभागा कहना पडेगा। यह भी सत्य है कि मुद्रण यन्त्र का आविष्कार पाश्चात्य में हुआ था, वहाँ की भाषाओ और वहाँ की प्रचलित लिपि की आवश्यकता के लिए। जब उसका प्रचार हमारे यहाँ हुआ तो उस समय हमने अपनी आवश्यकतानुसार अपनी लिपि की जीन उस विदेशी यन्त्र की पीठ पर कसने की चेष्टा की। विविध प्रकार की असुविधाएँ स्वाभाविक थी। लेकिन काम किसी प्रकार चलता रहा और इन्ही असुविधाओ को देखते हुए हमारे विचारक लिपि-सुधार की योजना प्रस्तुत करते रहे। इसका भी विशेष कारण था। यन्त्र विदेशी थे। जिनके निर्माण और सुधार में यहाँवालो का अपना कोई हाथ न था, लेकिन लिपि अपनी थी जिसपर वे अपना पूर्ण अधिकार मानते थे। इस प्रकार की लिपि सुधार की योजनाएँ, एक नही अनेक, सामने आईं, किन्तु कार्यान्वित न हो सकी। इस असफलता का रहस्य इतना ही था कि यह मार्ग ही अस्वाभाविक था। यह अस्वाभाविकता कुछ ऐसी ही थी कि जैसे अनेक वर्ष पूर्व किसी ने कहा था कि यदि टोपी छोटी हो जाए किसी कारणवश, 'तो' टोपी का परिमाण बढाने के बदले सर को ही छाँट-छूँट कर छोटा करने की चेष्टा की जाए। यह समस्या पुरानी थी, साधन पुराने थे और ज्यो-त्यो काम चलता रहा।

लेकिन यान्त्रिक दुनिया की परम्परा कुछ ऐसी है कि वह स्वभाव से

व्यवमायनिष्ठ होती है। कदाचित इसी का परिणाम यह है कि मुद्रण-यन्त्र में भी आज इतना अधिक परिवर्त्तन हो चुका है कि आज से दस वर्ष पहले के ढग में और आज के प्रचलित रूप में मौलिक परिवर्त्तन हो चुके है। साम्य प्राय नही सा है, लेकिन इन वास्तविकताओ को देखने और समझने का अवकाश हमारे इन तथाकथित लिपि-सुधारको को कहाँ ? और हो भी क्यो ? उन्हें तो अपनी ढपली पर अपना राग अलापना है और अपनी नेतागिरी का सेहरा येन-केन प्रकारेण अपने सिर पर स्थिर रखना ही है। विशेपकर जव इसी वहाने सरकारी पैसो की थैलियो के मुह भी खुले मिलें तव अवसर क्यो चूका जाए। अभी पिछले दिनो सुना गया नवावी शहर लखनऊ में भारत के, शिक्षामत्री स्वय मौलाना आजाद के सभापतित्व में विविध भारतीय सरकारो के प्रधानमन्त्रियो का जमघट श्री कालेलकर जी के सुझाव पर देवनागरी लिपि के 'उद्धार' के निमित्त हुआ था जिसमें शायद शिष्टाचार के विचार से कतिपय विद्वान् भी वुला लिए गए थे। इस बैठक की जो सूचनाएँ समाचारपत्रो द्वारा प्राप्त हुई, वे भी कम रोचक नही। न जाने किन आधारो पर लिपि के ये तथाकथित विशेपज्ञ यह भी कहने से न चूके कि देवनागरी लिपि अपने अक्षरो की वहुलता तथा सयुक्त वर्णो की क्लिष्टता इत्यादि की दृष्टि से निरी अवैज्ञानिक है। वहुलता नापने का इनका पैमाना है रोमन लिपि, जिसमें कहने के लिए केवल छब्बीस ही अक्षर हैं और देवनागरी में चौव्वन और छप्पन। लेकिन इन्हें यह पता नही कि रोमन के छब्बीस अक्षर केवल छब्बीस ही नही कहे जा सकते, वल्कि वास्तव में हैं इससे चौगुने। 'कैपिटल' और 'स्माल' तो हैं ही, साथ ही छपाई और लिखाई के दो-दो रूप मूलत भिन्न हैं। इस प्रकार यदि ईमानदारी से गिनती की जाए तो रोमन के छब्बीस अक्षर गिनती में ठहरेंगे एकसौ चार अर्थात् देवनागरी के दुगने। साथ ही इन वैज्ञानिकता के वावलो से यह भी पूछने को जी चाहता है कि आखिर इनकी वैज्ञानिकता का आधार है क्या ! जैसा ये कहते हैं, लिपि वैज्ञानिक वही कही जाएगी जो जैसे उच्चरित हो वैसे ही लिखी या छापी जाए। यदि इन्ही का पैमाना एक क्षण के लिए मान ही लिया जाए, तो क्या इन्हें यह भी वताना होगा कि रोमन अक्षर मुद्रण के और होते हैं और लिखने के दूसरे। रही क्रम की वात, तो उस आधार पर भी देव-

नागरी का ध्वनि-विन्यास रोमन से हाथो आगे अधिक पुष्ट और समर्थ है। इन तथाकथित लिपि-विशेषज्ञो की तो वात ही क्या, ससार के वडे से वडे वास्तविक लिपि-विशेषज्ञ भी देवनागरी के ध्वनि-क्रम की परम वैज्ञानिकता के सामने नतमस्तक हो चुके हैं। प्रश्न उठता है, अक्षरो के रूपो का। देवनागरी के अक्षर जिस उच्चारण सिद्धान्त पर अपने रूप ग्रहण किए हुए हैं, उसे समझने में तो हमारे इन लिपि-विशेषज्ञो को शायद युगो की आवश्यकता है।

इनका दूसरा तर्क यह है कि मुद्रण-कला की दृष्टि से रोमन में जहाँ एक सौ सात या आठ 'केसेस' से काम चल जाता है वहाँ देवनागरी अक्षरो की सयुक्त वर्णों की प्रणाली तथा लिखावट की परिपाटी के अनुसार सात सौ चौव्वन की आवश्यकता पडती है। जहाँ तक सयुक्त ध्वनियो का पश्न है, उसके सम्बन्ध में इन्हें जान लेना चाहिए कि यह वास्तविकता भाषा की प्रकृति में मूलबद्ध है। हमारी भाषा में सयुक्त ध्वनियो का विधान नैसर्गिक और स्वाभाविक है। अक्षर तो केवल चिह्न-मात्र है। जो लिपि भी इस भाषा के लिए स्वीकृत की जाएगी उसी में सयुक्त ध्वनियों के निर्वाह की व्यवस्था और क्षमता अनिवार्य होगी, अन्यथा वह हमारी भाषा के लिए निकम्मी होगी, क्योकि सयुक्त ध्वनियाँ भाषा में समाई हुई हैं। अव रही उनके मुद्रण की व्यवस्था। इन तथाकथित लिपि-विशेषज्ञो को यह भी जान लेना चाहिए कि आज की प्रगतिशील ससार की मुद्रण-व्यवस्था हैण्ड कम्पोजिंग तक ही सीमित नही रही वरन्, पाश्चात्य में तो 'मोनोटाइप' और 'लाइनोटाइप' का युग भी आकर चला गया। वहाँ तो अव आज 'फोटो-ग्रिव्योर' आ चुका है, जिसमें अक्षरो के केस क्या एक और क्या एक हज़ार तो कही हैं ही नही। हमने माना कि हम पिछडे हुए हैं। यद्यपि जीवन के आवश्यक कामो में स्वाधीन भारत का पिछडा रहना भी शोभा की बात कही नही जाएगी, लेकिन पिछडेपन की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी, यह तो सोचना ही पडेगा कि हमारा पिछडापन भी किस सीमा का है, या होना चाहिए। 'फोटोग्रिव्योर' यदि आज हमारे लिए सम्भव न भी हो, तो भी लाइनो और मोनो की व्यवस्था तो देश में प्रचलित हो ही गई है और होती जा रही है। आज की गिरी हुई परिस्थिति में भी वह कुछ-कुछ हमारी सीमा के भीतर पहुँच चुकी है और आधुनिक युग की अनिवार्य आवश्यकताओ को देखते हुए उसे प्राप्त करने के लिए

हमें अपनी सीमा वढानी ही होगी। लाइनो और मोनो मुद्रण प्रणाली में प्रश्न अक्षरो के केसो का नही होता, वरन् उसमें आवश्यकता होती है टाइप राइटिंग मशीन की। हमारे देश में ही आज एक नही अनेक इस दिशा में सफल प्रयोग हो चुके हैं, जिनसे हमारे ये तथाकथित लिपि-विशेषज्ञ भी परिचित हैं। हिन्दी की टाईपिंग मशीनें अक्षरो की सख्या और सयुक्त वर्णों की समस्या हल कर चुकी हैं। वहाँ न आवश्यकता है अक्षरो के आकार विगाड़ने की और न प्रचलित लिखाई के क्रम में अनावश्यक छेड-छाड़ करने की।

सुनने में तो यह भी आया कि इन उतावले लिपि-सुधारको की लखनौआ वैठक के अवसर पर ही किसी जर्मन कम्पनी ने इन्हें ऐसी टाइप-राइटिंग मशीन के दर्शन करा के इन्हें चुनौती दी कि देवनागरी लिपि में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नही। ज्यो की त्यो वह ससार की किसी भी लिपि से होड ले सकती है। एक विशेषज्ञ ने यह भी सिद्ध कर दिया कि जहाँ तक समय का प्रश्न है, देवनागरी लिपि रोमन या अन्य किसी भी लिपि से अधिक द्रुतशीला है। अपने दावे को उसने इस आधार पर सार्थकता के साथ सिद्ध किया कि किसी शब्द के मुद्रण में रोमन अक्षरोवाली मशीन से जितने 'स्ट्रोक्स' की आवश्यकता होगी, उससे लगभग वीस प्रतिशत कम 'स्ट्रोक्स' देवनागरी की मशीन पर आवश्यक होते हैं। इसके अतिरिक्त देवनागरी लिपि की ध्वनिस्पष्टता की जो अपनी विशेषता है वह तो अन्य किसी भी लिपि में सम्भव ही नही। इतने प्रमाणो के, और इतनी वास्तविकताओ के वाद भी हमारे लिपि-सुधारक अपने हठ पर अडिग हैं। भारत सरकार के साधन, उसका कोष और उसकी सत्ता, उनके साथ है। सुना गया है कि उस अनावश्यक पिछली वैठक पर एक लाख से अधिक की निधि व्यय हो चुकी है। कोई पूछे, क्यो और किस सफलता के लिए? एक ओर तो इस अभागे निरक्षर देश में सामान्य शिक्षा-प्रचार के लिए भी हमारी सरकार कहती है कि झोली खाली है और दूसरी ओर ये नव्वावी ठाट! शायद इसे ही कहते हैं—"मोहरो की लूट और कोयलो पर छाप।"

ठगों का बैठका है जावजा चोरों की 'महफिल' है

चहल-पहल जीवन की निशानी है और स्तब्धता शायद मरण की। इस नाते हिन्दी की दुनियाँ में जितनी अधिक चहल-पहल रहे उतना ही अच्छा। यो तो हिन्दी का बारह सौ साल का ठोस साहित्य तथा करोड़ो व्यक्तियों का इस पर मातृवत् अनुराग, उसकी अनन्त जीवनी शक्ति के ज्वलन्त प्रमाण हैं, किन्तु इधर हलचल कुछ अधिक बढ़ी हुई जान पडती है। विविध नई-नई योजनाओ को देखकर यह अनुमान करना कठिन नही कि 'युद्धान्तर विश्वव्यापी-कार्यक्रमों' के इस युग में हिन्दी के कर्णधार सो नहीं रहे हैं। (१) साहित्य सम्मेलन के शुद्धीकरण की जोरदार माँग, (२) विकेन्द्रीकरण की धूम तथा (३) जनपदीय कार्य-क्रम का उत्साह उपर्युक्त अनुमान के पर्याप्त प्रमाण हैं।

साहित्य-सम्मेलन के शुद्धीकरण की माँग आज की चहल-पहल की पहली तरग है। हिन्दी के विस्तृत ससार की इनी-गिनी सस्थाओ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी एक है। अवस्था में यह संस्था पुरानी कहलाने की अधिकारिणी बन चुकी है। मरम्मत की आवश्यकता इसे केवल आज ही नहीं पड़ी है, वरन् इसकी जन्म-कुण्डली यदि देखी जाय तो जन्म से ही यह रोगिणी रही है। सत्ता-लोलुपों की वक्र दृष्टि से इसका जीवन शायद ही कभी कुछ क्षणो के लिए मुक्त रहा हो। राहु की महादशा शायद अभी उतरी भी न थी कि 'रूस' और 'फिजी' की आबोहवा से तर दिमागवाले पाणिनि के कल्जुगी उद्धारक के साथ 'विकेन्द्रीकरण' का 'केतु' थामे हुए आ धमके। 'केतु' की वक्र दृष्टि का परिचय कुछ इस प्रकार दिया गया—विकेन्द्रीकरण की परिभाषा दी गई कि "थोड़े से व्यक्तियों तथा दो-तीन सस्थाओ के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति सौंपने के बजाय अधिक से अधिक मनुष्यो को सशक्त बनाना तथा सैकडो सहस्रो ऐसे केन्द्र स्थापित

करना जहाँ से साधारण जनता प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त कर सके, इस नीति का नाम विकेन्द्रीकरण है।"

इसमें साहित्य-सम्मेलन या नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर ही स्पष्ट सकेत मिलता है। इस परिभाषा के पहले अश में एक कल्पित दोष आधार माना गया है। देखना होगा वे कौन से व्यक्ति हैं या सस्थाएँ हैं जिनके हाथ में सम्पूर्ण शक्ति सौंप दी गई है? तथा किसके द्वारा? यदि उपर्युक्त दोनो सस्थाओ से तात्पर्य है, तब तो परिभाषा का पहला अश अर्थहीन-सा ही हो जाता है। इन सस्थाओं के पास जनमत की शक्ति जैसी भी कोई चीज नही है, यह एक कौतूहलपूर्ण सवाद है। हिन्दी-भाषा, उसका साहित्य, तथा उसके व्यवहार करनेवालो के प्रति नित्य होनेवाले तथाकथित अत्याचारो के विरुद्ध 'विकेन्द्रकों' ने कितने और न जाने कितनी बार प्रस्ताव पास किये, किन्तु फल क्या हुआ? यही तो इन सस्थाओ की शक्ति का प्रमाण है। शायद अपनी इसी असफलता से घबराकर 'विकेन्द्रीकरण' की नई योजना की सूझ दिमाग़ में आई होगी।

रही और अनेक सस्थाओ के खोलने की बात। सो तो ठीक ही है कि हिन्दी के व्यापक और सुविस्तृत क्षेत्र में भी इनी-गिनी दो-तीन निर्बल सस्थायें पर्याप्त नहीं। सैकड़ो क्या हजारों सस्थायें यदि हिन्दी की सेवा में रत हो जायें तो उनका स्वागत है। परन्तु उन पर रोक ही कब और किसके द्वारा लगाई गई? जब केन्द्रीकरण का कही ठिकाना ही नही देख पड़ता, तब विकेन्द्रीकरण का प्रश्न ही कैसा? हाँ! सस्थायें क़ायम करते समय इतना न भूलना होगा कि सस्थायें कही घर-घर में स्थापित न हो जायें, कि अपनी अपनी डफली और अपना-अपना राग अलग-अलग बजने लग जाय या सस्थापकी का रोग यहाँ तक न बढ जाय, कि सब 'नेता' ही बन जायें और अनुगामियो का पता ही न चले।

अब यदि जनपदीय कार्यक्रम की योजना पर दृष्टि डाली जाय, तो यह पचवर्षीय योजना एक मास में ही भाषा, साहित्य एव सारी सास्कृतिक सामग्री को बटोरकर मुँह में भर लेने के 'शिशु-प्रयत्न' के समान है। उसकी आठ समितियाँ मानो आठ कौर हैं।

यो तो इन योजनाओ को साधारण चहल-पहल समझ लिया जाता, किन्तु इन पर जिन सुयोग्य व्यक्तियो का श्रम व्यय हो रहा है उसका विचार करके यह प्रश्न यों ही नही छोडा जा सकता।

पहला प्रश्न तो यह उठता है कि इन विविध कार्यक्रमो का तथा इन सस्थाओ एव समितियो का सचालन किनके द्वारा होगा ? वे हाड-मॉस के बने व्यक्ति होगे या इनके पीछे भी 'स्वयवह बमो' की तरह के वैज्ञानिक यन्त्र ? तब तो अच्छा होता कि इन योजनाओ की सृष्टि के पहले प्रयास किया जाता उन वास्तविक समस्याओ को सुलझाने का जो हिन्दी के कल्पवृक्ष पर अमरबेल की तरह फैली पडी हैं और उसे सुखाये डाल रही हैं।

रूस की पचवर्षीय या दसवर्षीय योजना से स्फूर्ति पाकर बिखरी हुई अखण्ड ज्ञान-निधि का लेखा-जोखा कर डाला गया, कार्यक्रम बन गये। समितियो का ढाँचा तो तैयार हो गया, परन्तु हिन्दी के सेवको की भूख, उनकी अकथनीय दीन दशा का भी किसी ने एक क्षण के लिए विचार किया ? उसके निवारण के लिए कौन-सी योजनाएँ बनाई गई ?

क्या यह भी बताना होगा कि किसी भी सभ्य देश के साहित्य के विविध अगो की पूर्ति मुख्याश में या तो सरकारी तौर पर कराई जाती है, या फिर उन मेधावी विद्या-व्यसनी व्यक्तियो के द्वारा होती है, जिन्होने साहित्य-सेवा को ही अपनी जीविका का साधन बना लिया है तथा उसी में अपने समय तथा अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग करते हैं। उसी को लेकर जीते हैं और उसी में मरते हैं। और वही उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति भी होती है। यो तो इसके प्रमाण की आवश्यकता न होती, किन्तु इस प्रसग में ग्रियर्सन, टर्नर इत्यादि के नाम प्राय लिये जाते हैं। तब क्या यह सच नही कि 'ग्रियर्सन साहब' एक आई० सी० एस० थे और 'टर्नर' साहब भी ब्रिटिश सरकार के सम्मानित मेहमान ? इसमें से एक भी ऐसा नही था जिसे शान्ति एव उच्च कोटि के जीवन की सुविधाएँ प्राप्त न रही हो।

सरकारी पक्ष को यदि छोड़ भी दिया जाय तो, भी देखा जा सकता है कि पाश्चात्य देशो में 'प्रकाशन' एव 'अखबार नवीसी' का सगठन ऐसा बन चुका है कि वहाँ का लेखनी का धनी भूखो मरने के खतरे से बरी है। वहाँ का प्रकाशक 'बर्नर्डशा, गाल्सवर्दी, 'बेरी, लिन्यूशग या जवाहर लाल को ही लाखो की भेंट हँसते-हँसते दे सकता है। वहाँ का पत्र-सम्पादक लुईफिशर, सन्तनिहाल सिंह, एडगर स्नो को मानवोचित सुसम्पन्न जीवन बिताने के योग्य पैसे देने में सकोच नही करता, किन्तु हिन्दी के 'कर्णधारो'

ने क्या कभी हिन्दी-लेखकों की दशा पर भी विचार करने का कष्ट किया है ?

कहने में लज्जा भले ही प्रतीत हो, परन्तु इस सत्य से इनकार तो नही किया जा सकता कि एक रुपये फर्मा लिखाई देकर सर्वाधिकार खरीद लेनेवाले प्रकाशक तथा यथा अवसर अठन्नी कालम भी लेखको को पारिश्रमिक देनेवाले सम्पादक और पत्र-सचालक हिन्दी ससार में आज भी फल-फूल रहे हैं। उस पर भी नियत तो यही रहती है कि "लेखक की कृति यदि मुफ्त हाथ आ जाय तो बुरा क्या है ?"

उपर्युक्त योजनाओ का दूसरा लक्ष्य यह है कि संस्थाएँ तथा समितियाँ गाँव-गाँव में बिछी पडी हो, उनके कार्यक्रमो का सम्पादन भी वही के लोगो के द्वारा हो । अभिलाषा तो बुरी नही, परन्तु किसी भी प्रकार के साहित्यिक कार्य के लिए उचित शिक्षा की भी आवश्यकता होती है । हमारे आज के देहातो में शिक्षा का मान-दण्ड क्या मिडिल पास से ऊपर भी उठ सका है ? तब शिक्षा की इस कच्ची भित्ति के सहारे कार्य-क्रम यदि आरम्भ भी हुआ तो, उसकी सिद्धि या सार्थकता का अनुमान लगाना कठिन नही होना चाहिए ।

इन कटु वास्तविकताओ को सामने रखते हुए यह निवेदन करना बुरा न होगा कि हिन्दी के ये शुभचिन्तक यदि हिन्दी की वास्तविक सेवा करना चाहते हैं, तो पचवर्षीय या दशवर्षीय योजनाओ तथा 'केन्द्रीकरण' या 'विकेन्द्रीकरण' के स्वप्नो को देखने के पहले हिन्दी के उन्नति-पथ की वास्तविक अडचनो को दूर करने की ईमानदारी तथा तत्परता से चेष्टा करें। यदि सम्भव हो तो प्रकाशन-व्यवस्था को पहले सुधारें, तथा पत्र-पत्रिकाओ के द्वारा निरीह हिन्दी लेखको के रक्त-शोषण को रोकने की चेष्टा करें ताकि हिन्दी की दुनियाँ में भी पुष्ट एवं स्वस्थ लेखन व्यवसाय की सृष्टि हो और लेखक अपनी कलम के बल पर जीने का उत्साह लेकर साहित्य को अमर रत्न भेंट कर सकें, ज्ञान के भडार को भर सकें और सभ्यता की नींव को सुदृढ कर सकें ।

तुम्हीं ने दर्द दिया अब तुम्हीं दवा 'दोगे' ?

प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पट बदरिकाश्रम के पटो के समान प्रति वर्ष ही खुला करते हैं—लेकिन केवल अधिवेशन के ही समय। 'गँजेडी यार किसके दम लगाई खिसके' को चरितार्थ करनेवाले उसके ये भाग्य-विधाता भी लापता हो जाते हैं। उदयपुर अधिवेशन का समय ज्यो-ज्यो निकट आता जाता है लोग अपनी-अपनी तजवीजें लेकर उपस्थित होते जाते हैं।

अभी उस दिन सम्मेलन के कायाकल्प के कुछ नुस्खे पण्डित बनारसी-दास जी चतुर्वेदी ने भी पेश किये हैं। उनकी राय में 'दस वर्ष' का इलाज सम्मेलन को फिर से नई जवानी दे सकेगा। पुराने रोगो से छुट्टी देर में ही मिलती है। पिछले वर्ष तक जो हकीम बनारसीदास जी 'विकेन्द्रीकरण' तथा 'जनपदीय भाषोद्धार' के मन्त्रो की झाड-फूक से अग-भंग करके सम्मेलन को 'विदेहता' प्रदान करने की तजवीज कर रहे थे, वही आज इस समय अपनी राय कुछ बदली हुई-सी लेकर उदय हुए हैं। वे अब यह कहते हैं कि सम्मेलन 'सस्थावाद' के ज्वर से पीडित है और 'वैधानिकता' का सरसाम जोर पकडता जा रहा है। इसका इलाज वे इस तरह करना चाहते हैं कि विधानो को स्थगित कर दिया जाय और सम्मेलन की सारी सत्ता चतुर्वेदी जी द्वारा अन्वेषित अठारह भिषग्रत्नो को सौप दी जाय। जिन नामो की सूची दी गई है उनमें से नौ रत्न तो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादक हैं। चार व्यस्त राष्ट्रकर्मी हैं, दो जीवन की कठिनाइयो की कडी धूप से भागकर सन्यास की साया का सेवन करनेवाले हैं और दो ऐसे हैं जिन्हें सम्मेलन के अधिवेशनो पर सिहासनारूढ होने के अतिरिक्त उससे और कोई सरोकार नही रहा है। इने-गिने दो-तीन बच जाते हैं जिन्हें वास्तविक अर्थ में साहित्यिक कहा जा सकता है।

इनके द्वारा जो-सेवा अपेक्षित है, वह कुछ इस प्रकार है—(१) परीक्षा शुल्क में वृद्धि करके, पुस्तको को येन-केन प्रकारेण विकवा कर, चन्दा करके, तथा पिछले गुनहगार प्रकाशको का गला दवाकर धन एकत्रित करें। (२) परीक्षार्थियो की सख्या में वृद्धि कराकर 'एक अच्छी रकम सम्मेलन के लिए प्राप्त करें। 'घूमे-घामे' (३) और फिर एक दशवर्षीय कार्यक्रम सम्मेलन के लिए वनावें।

हकीम चतुर्वेदी जी के नुस्खे पर गौर करने के वाद कुछ आश्चर्य होता है। क्योकि, जिन वदपरहेजियो तथा जिन कुसंगोंके कारण रोग ग्रसित होकर सम्मेलन मरणासन्न हो गया है, उन्ही को नुस्खे में इलाज कहकर तजवीज किया गया है। जिन अट्ठारह व्यक्तियो के हाथ में सम्मेलन को सौंप देने की वात कही गयी है, सहसा प्रश्न यह उठता है कि, आज का यह जर्जर सम्मेलन उन्ही हाथो को छोडकर आखिर है किन हाथो में? व्यक्तिगत योग्यता अथवा अयोग्यता का प्रश्न उठाना शिष्टता के नियम के अनुकूल न होगा। किन्तु इन व्यक्तियो के पास कितना अवकाश सम्मेलन के लिए रहा होगा या रह सकता है, इसका पता तो उनके पेशो पर विचार करने से ही लग जायेगा।

चतुर्वेदी जी के प्रस्ताव की नवीनता इतनी अवश्य है कि अव तक इन 'नव-ग्रहो' के नाम पर सम्मेलन की वागडोर जिन वेतन भोगी' व्यक्तियो के हाथ में रही है, वे वेतन तो अल्प ही पाते थे, लेकिन इस प्रस्ताव के अनुसार भविष्य में 'मत्र' देनेवालो की फीस पचास-साठ रुपये मासिक से वढकर दो सौ-ढाई सौ हो जानी चाहिए। दूसरी नवीनता यह है कि सम्मेलन का पट्टा अभी तक साल-दर साल वदला जाता था लेकिन इस नये प्रस्ताव में दसवर्षीय कर देने की सिफारिश है। मौरूसियत का प्रस्ताव शायद आगे आवे।

सच वात तो यह है कि डिक्टेटरी का शौक़ आज-कल कुछ इतना वढ गया है कि जीवन के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में हम अपने इस शौक़ को जिस तरह सम्भव हो पूरा करने की फ़िराक में रहते हैं। यदि एक व्यक्ति की डिक्टेटरी सम्भव नही तो एक समूह की ही सही। सेवा या जन-कल्याण के खोखले नारे लगाकर हम शक्ति-सचय में ही तल्लीन रहते हैं, जिसका उपयोग परोपकार में तो कम, निजोपकार में ही प्राय. हुआ करता है। 'वैधानिकता' को कोसने से पहले चतुर्वेदी जी क्या यह

जानने का प्रयत्न करेंगे कि साहित्य-सम्मेलन के सारे विधान एक या दो व्यक्तियों की टेंट में ही रहते हैं। स्थायी समति, यह समिति, वह समति कहने के लिए चुनाव के द्वारा सगठित होती हैं, किन्तु रहता है वह केवल चुनावो का स्वाग। प्रमाणस्वरूप देखी जा सकती है सभापति की वह चुनाव-चर्चा जिसमें स्वनामधन्य इन्द्र जी की फ़ज़ीहत हुई थी।

आत्मवचना केवल सामाजिक तथा नैतिक दुष्कर्म ही नही वरन् एक पाप है। सार्वजनिक सस्थाओ को अपने व्यक्तिगत उत्थान का साधन वनाना कुछ वैसी ही चीज है। एक सम्मेलन ही क्या कितनी ही हमारी सस्थायें व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन की सीढियाँ वनी हुई हैं। इन्हें अपने चरित्र एव पतन का मानदड कह सकते हैं। यदि हमें राष्ट्रोन्नति के मार्ग पर ऊपर उठना है, तो पहली आवश्यकता यह है कि हम 'डिक्टेटरी' और 'लीडरी' के शौक से अपने को मुक्त करें, अधिक ईमानदारी से काम लें।

'अजल कहते हैं उस लहमे को जब दिल को क़रार आए।'

सरकार द्वारा उपेक्षित, सस्कृत पडितों की निगाह में असंस्कृत, और अग्रेजी पढे-लिखो के द्वारा व्यर्थ तिरस्कृत, भारत की देववाणी, सस्कृत की ज्येष्ठा कन्या यह हिन्दी, आज से लगभग सौ वर्ष पहले जिन मनीषियो के द्वार अपनायी गई थी वे गिनती में थोडे ही थे, किन्तु उनकी सूझ बडी दूर की थी, उनकी लगन सच्ची थी और उनकी शक्ति अपार थी। भले ही उनके युग ने उन्हें न समझा हो किन्तु वे जानते थे कि भारत का भविष्य उज्ज्वल है और एक न एक दिन उसे अपनी चिरमूक जनता को शिक्षा और दीक्षा से युक्त करना ही होगा। उस समय यही हिन्दी राष्ट्र की वाणी होगी। भारत अपना सन्देश केवल भारतीयो को ही नही, वरन शायद विश्व को भी अपनी इसी वाणी में देगा, इसी निमित्त उन मनीषियो के द्वारा सगठित रूप में कार्य करने के लिए देश के विविध अचलो में अनेक सस्थाओ की स्थापना की गयी थी। प्रयाग का हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, काशी की नागरी प्रचारिणी सभा इत्यादि ऐसी ही सस्थाओ में से थी। उस प्रारम्भिक स्थिति में हिन्दी की कोई भी सस्था किसी बडे पैमाने पर खडी नही की जा सकती थी। साधन और सहायता प्राप्त करना भी एक कठिन समस्या थी। जिनका सम्बन्ध साहित्य सम्मेलन से या काशी नागरी प्रचारिणी सभा या अन्य ऐसी ही किसी सस्था से रहा है वे जानते हैं कि प्रारम्भ के बीसो वर्ष कितने कष्ट के थे। धीरे-धीरे सहानुभूति तो मिलने लगी थी, किन्तु वास्तविक सहायता अथवा प्रोत्साहन का कोई ठिकाना न था। बडे आयोजनों की तो बात ही व्यर्थ है, कर्मचारियों का साधारण मासिक वेतन भी समय पर दे देना सम्भव नहीं था। अभागो के भी भाग्य अनायास खुल जाया करते हैं। भारत

के इतिहास और पुराणो के पन्ने ऐसे उदाहरणो से खाली नही हैं। व्यर्थ उपेक्षिता हिन्दी के भी भाग्य खुले और बापू के रूप में एक मसीहा का वरदान उन्नीस सौ चौबीस में प्राप्त हो गया। आज़ादी का वह परम उपासक पहले ही सोच चुका था कि जहाँ युगो के गुलाम भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है, वही उसे मानसिक और सास्कृतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता भी कम नही और यह उसे राष्ट्रवाणी के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। यो तो उसकी अपनी मातृभाषा तो थी गुजराती किन्तु उसकी दूरदर्शिता उसे आदेश दे चुकी थी हिन्दी के समर्थन का।

राष्ट्रीय सघर्ष के वे क्षण ऐसे नही थे कि जिनमें केवल कलात्मक साहित्य अथवा विविध सास्कृतिक समस्याओ पर ही हिन्दी की शक्ति विशेष रूप से केन्द्रित की जाय। उस समय की आवश्यकतायें भिन्न थी और उन क्षणो में राष्ट्रभाषा का व्यापक प्रचार समय की माँग थी। साहित्य सम्मेलन पहले से ही इस ओर कुछ कदम उठा चुका था और यही कारण था कि इसे पूज्य बापू का समर्थन और सहयोग अनायास ही प्राप्त हो सका। अपनी अन्य असाधारण विशेषताओ में बापू की सबसे बडी विशेषता और सिद्धि की कुजी यह थी कि वे अपनी सब योजना को व्यावहारिक रूप भी देना जानते थे। उनकी पैनी निगाह से यह रहस्य छिपा नही था कि जहा तक हिन्दी के राष्ट्रभाषा-रूप के प्रचार का प्रश्न है, वहाँ तक उत्तरभारत के प्रदेशो में विशेष अडचन की सम्भावना नही, क्योकि उत्तर भारत की भाषायें प्राय एक-दूसरे से बहुत निकट हैं और सम्बद्ध भी। किन्तु दक्षिणी भाषायें हिन्दी से या उत्तर की अन्य किसी भाषा से कौन कहे, आपस में भी इतनी भिन्न हैं कि तामिल अचल वाला तेलगू या कन्नड को समझने में भी असमर्थ है। यदि उत्तर की बात छोड भी दी जाय तो दक्षिण भारत के विस्तृत क्षेत्र को एक सूत्र में बांधने के लिए भी किसी न किसी एक भाषा-माध्यम की तो आवश्यकता थी ही। दक्षिण प्रदेश के कोने-कोने में अग्रेजी भाषा की एकमात्र सत्ता स्थापित हो जाने का प्रधान कारण यह भी था। भाषा-विषयक उनकी इस दिमागी गुलामी को छुडाने के लिए तथा उस विशाल दक्षिण की जनराशि और अपार प्रतिभा को उत्तर के साथ जोड देने के लिए सर्वप्रथम वही हिन्दी का प्रचार किया जाना बापू को सबसे अधिक आवश्यक जान पडा और 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की नीव सच्ची लगन के कार्य-

कर्त्ताओ को लेकर डाल दी गई। साधनो की कमी या धन की कमी की अडचन बापू को कभी नही रही। देखते-देखते हिन्दी-प्रचार का वह दक्षिणी केन्द्र अपना करिश्मा कर बैठा। भले ही मुट्ठी भर अंग्रेजीदां गुलाम आज भी अपनी व्यक्तिगत सुविधाओ के लिए या किन्ही अन्य अनैतिक कारणो से चिल्लाते सुन पडें, कि दक्षिण भारत राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्वागत नही करता, किन्तु वास्तविकता इससे बिल्कुल भिन्न है। वहाँ की समझदार जनता अपने कर्तव्य को और अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं को जानती है, पहचानती है और उसके प्रति उसका उत्साह सराहनीय है। इस ओर वहाँ की प्रगति भी कम आश्चर्यजनक नही। उत्तर-भारत के पूर्व से पश्चिम तक के विविध केन्द्रो में भी राष्ट्रभाषा का सन्देश राष्ट्रभाषा के कर्मठ सेवको ने वर्षों की तपस्या से बडी सफलता के साथ पहुँचाया है। इस राष्ट्र-सेवा का श्रेय हिन्दी की विविध क्रियाशील सस्थाओ को मिलना ही चाहिए।

इस सात्त्विक सेवा का प्रसाद भी इन सस्थाओ को अविलम्ब ही प्राप्त हुआ। देखते-देखते उनके रिक्त कोष धन और शक्ति से सम्पन्न हो गये। अगणित तेजस्वी कार्यकर्त्ताओ और समर्थ सूझ-बूझवाले सेवको के दल के दल आ मिले। कल्पवृक्ष इनके कानन में क्या उग उठे; स्वार्थी अवसरवादी, खून लगाकर शहीद बननेवाले स्वयभू और स्वय हिन्दी भाषा और साहित्य के ठेकेदार भी, और कुछ न सही तो, जनतन्त्रता का थोथा नारा लगाते हुए ही, इन कुसुमित काननो में घुस पडे, किसी सेवा की भावना से नही, वरन् उन कल्पतरुओं पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए। ये असन्तोषी जीव कल्पतरु के स्वादिष्ट फलो से ही तृप्त होनेवाले नही, ये तो उन मरभूखो में से थे जो पेड के पत्तो और उनकी शाखाओं की कौन कहे, जड तक चुवा डालने का हौसला रखते थे। यही समस्या उठती है कि जिन पवित्र संस्थाओ की स्थापना उच्चतम राष्ट्रीय आदर्शों को लेकर हुई थी, जिनका पोषण सात्त्विक वृत्ति के राष्ट्र-सेवको के द्वारा हुआ था, जिनका सरक्षण समर्थ राष्ट्रीय नेताओ के कर्मयोग ने किया था, आखिर उनमें स्वार्थान्ध अवसरवादियो का यह घोर ताडव कैसे सम्भव हुआ? उत्तर के लिए दूर न जाना पडेगा, जैसा ऊपर कहा जा चुका है इन सस्थाओ की स्थापना राष्ट्रीय चेतना के निमित्त हुई थी और राष्ट्रीय युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के बाद। आधुनिक ससार आज शासन

और सचालन के क्षेत्र में जनतत्रता को आदर्श मानता है। प्रारम्भिक काल में इन सस्थाओ के सस्थापक जो सभी सुशिक्षित थे, और सेवा भाव से ओत-प्रोत थे, वे भी जनतत्रवाद के ही क़ायल थे। उनके द्वारा इन सस्थाओ का विधान भी जनतन्त्र के ही सिद्धान्त पर बनाया गया था, और अनुकूल परिस्थितियो में किसी प्रकार के भ्रष्टाचार का इसे भय भी नही होना चाहिए था। किन्तु वास्तविकता के उपासक और ढकोसलो के विरोधी बर्नाडशो की राय में आज-कल का कोने-कोने में छितराया हुआ, जनतत्रवाद का नारा व्यर्थ की विडम्बना मात्र है। उसने ठीक ही कहा है कि "जनतत्रवाद का सिद्धान्त अपनी सारी पवित्रता के बावजूद भी अविवेकी जनो के हाथो में पडकर केवल भ्रष्ट एव असफल ही नही होता, वरन् अवसरवादियो के लिए खुलकर खेलने का द्वार उन्मुक्त कर देता है और विडम्बना मात्र रह जाता है।" अपने बढते हुए प्रभाव, कीर्ति और यश के साथ इन सस्थाओ के भरेपूरे कोष ने अनायास ही इन अवसर-वादियो को आमन्त्रण दे डाला। उसका पवित्र विधान, इनके हथकडो से, 'वरदायी' न रहकर, आज अभिशाप बन गया है।

यदि किसी देश की राष्ट्र भाषा का अर्थ यह होता है कि राष्ट्र की वह वाणी जिसका व्यवहार राष्ट्र व्यापक रूप में करता रहा हो और जिसमें राष्ट्र की विचार-राशि प्रस्फुटित होती रही हो, उसकी आशायें और अभि-लाषायें जिसमें मुखरित हो और राष्ट्र के आदर्श जिस वाणी के साहित्य में अपनी अमरता प्राप्त कर चुके हों, तो इस रूप में भारत की राष्ट्र-वाणी सस्कृत काल के बाद निस्सदेह ही हिन्दी को मानना पडेगा। यह केवल व्यापक रूप में व्यवहृत ही नहीं होती रही है, वरन् देश के कोने-कोने में फैली हुई प्रतिभा इसी में सचित युगों की ज्ञानराशि से अनुप्राणित होती रही है। जब देश की शासन-व्यवस्था पर हमारा अधिकार ही नही था, शासकवर्ग युगो से हमारी एकता को छिन्न-भिन्न करके टुकडो में बाँटकर हमारी निरीहिता से लाभ उठाने का ही कायल था, तब ऐसी विवशता में चर्चा ही क्या हो सकती थी, हमारी राष्ट्रयता की, या राष्ट्र-भाषा की। किन्तु हमारे देश में स्वतन्त्रता के सूर्य की रश्मियो के फूटने के साथ ही हमारे हृदय में राष्ट्रीयता का जग उठना स्वाभाविक परिणाम है। वह राष्ट्र ही कैसा जिसकी अपनी राष्ट्रीय वाणी न हो, और अपने राष्ट्रीय आदर्श न हों, या न हो राष्ट्रीय सस्कृति ? इस सत्य की प्रेरणा से यदि

हिन्दी आज राष्ट्र की भाषा के पद पर आसीन हो गई तो यह उचित ही था। सच तो यह है कि इसकी वैधानिक घोषणा में भले ही कोई नवीनता हो, वैसे तो अपने पद पर यह हमेशा से आसीन रही है, और अपने कर्त्तव्य का निर्वाह भी करती जा रही है। गुलामी की मदिरा में चूर हमारे देशवासी जहाँ अपने को ही भूल बैठे थे, वही यदि अपनी राष्ट्रवाणी की पावनता के प्रति भी उदासीन बने रहे हो, तो इसमें भी कोई आश्चर्य नही ? सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा जैसी सस्थाओ ने उन्हें इस ओर भी सचेत कर दिया। यही क्या कम है ?

निठल्ले आलोचक अब आज विशेष रूप से यह कहते सुने जाते है कि अब शक्ति को "हिन्दी प्रचार में लगाना उसका दुरुपयोग करना है। अब तो हिन्दी साहित्य के विविध आवश्यक एव उपयोगी अगो की पूर्ति ही की जानी चाहिये, इत्यादि इत्यादि"। यह सुझाव निस्सदेह उचित ही है। लेकिन इसमें भी सदेह नही कि हमारी सस्थाएँ अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति भी निरा उदासीन नही रही है। पिछले अनेक वर्षों के कार्य का यदि लेखा-जोखा लिया जाय, तो यह स्पष्ट है कि हिन्दी-प्रचार-कार्य बहुत अशो में विविध परीक्षाओ की व्यवस्था के माध्यम से ही होता आ रहा है। इन परीक्षाओ के निमित्त पाठ्यक्रम में रखने योग्य साहित्य की रचना भी करानी ही पडी थी, जिसके मिस निस्सदेह ही साहित्य के अनेक अशो की अच्छी पूर्ति हुई है, और यह भी रचनात्मक कार्य अपने ढंग का ठीक ही था। लेकिन आगे चलकर जैसे ही हिन्दी की परीक्षाएँ अधिक जनप्रिय हुई, उनका क्षेत्र व्यापक हुआ, परीक्षार्थियो की सख्या में आशातीत वृद्धि हुई, त्योही दुर्भाग्य से धनलोलुप प्रकाशक इस ओर स्वार्थ-साधन के निमित्त अनायास ही आकृष्ट और उत्साहित हो उठे और धीरे-धीरे पैसे के बल पर न केवल ऐसी सस्थाओ के सचालक ही बन बैठे, वरन् इसकी हर नीति के ठेकेदार भी बन बैठे। ऐसे-ऐसे नियमो और उपनियमो की सृष्टि कर दी गई कि पाठ्यक्रम में निजी प्रकाशनो को छोडकर अन्य पुस्तकें चाहें जैसी भी उपयोगी क्यो न हो, स्थान नही पा सकती और इस का अर्थ था इन गिने-चुने साहित्य के ज्ञान से शून्य, सेवा की भावना से कोरे, पेशेवर सत्ताधारी प्रकाशक-दल के द्वारा उपस्थित किया गया वह सस्ता और निकम्मा साहित्य, जो इन्ही के भाई-बन्दो की सस्ती कलमो का प्रसाद था और जो इन्ही के निजी छापेखाने के मुद्रण की कुरूपता का

प्रतीक था। इन्ह तो मतलब था केवल पैसे गिनने से। इन लक्ष्मी-लोलुपो से और आशा ही क्या हो सकती है? दलवदी के ये कुशल खिलाडी एक बार साहित्यिको के इस तपोवन में क्या घुस पडे, कि फिर आज तक उनके बोझिल प्रभाव से ये पवित्र सस्थाएँ उबर ही नही सकी।

इस प्रकार इन परीक्षाओ में परीक्षार्थियो की बाढ के अनुपात में ही पाठ्यक्रम की पूर्ति के बहाने तथाकथित साहित्यिक प्रकाशनो की भी बाढ-सी आ गयी। छपे काग़ज़ का अम्बार लग गया लेकिन उसके भीतर सार कितना था या हिन्दी साहित्य की श्री-वृद्धि कितनी हुई यह सशयात्मक है।

अयोग्य व्यक्तियो के सिर पर सत्ता का सेहरा जब कभी दैवयोग से बँध जाता है तो शक्ति का दुरुपयोग होना तो निश्चित ही है, साथ ही सेहराधारी ये अर्थलोलुप 'इन्द्र' की तरह जीवन में प्रतिक्षण योग्य एव मनस्वो व्यक्तियो की साया से भी भयभीत हुआ करते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण रहा है साहित्य सम्मेलन का अखाडा। अपने गिरे दिनो में भी समय-समय पर इसे स्व० डा० अमरनाथ झा, महापडित राहुल साकृत्यायन, कुलपति डा० रामप्रसाद त्रिपाठी जैसे नि स्वार्थ साहित्यसेवियो का सहयोग प्राप्त होता ही रहा, किन्तु इस 'इन्द्रो' की सभा में उनका आदर और सम्मान न हो सका। इसके अब तक के सचालको की सहज कायरता अनर्गल बाजारू नारो की खतरे की घटी बजा-बजाकर इनसे बचने की चेष्टा भी करती रही। इसी दुर्नीति का परिणाम यह हुआ कि ठोस कार्यकर्त्ताओ से युक्त, सम्मेलन के द्वारा ही सस्थापित एव परिचालित, 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' को अपना अस्तित्व कायम रखने के लिये वर्षों पहले सम्मेलन से अपना पल्ला छुडा लेना पडा। इससे केवल इतनी ही हानि नही हुई कि सम्मेलन ने कितने ही उच्चकोटि के सेवको का सहयोग खोया, वरन् इसी का विषाक्त परिणाम है कि आज राष्ट्रभाषा की एकसूत्रता देशव्यापिनी नही हो रही है। एक नही अनेक प्रतिद्वद्वी सगठनो की सृष्टि हो गई है और होती जा रही है। अपेक्षित सगठनो की दृढता के अभाव के इन क्षणो में कितने ही अवसरवादी इधर-उधर अपनी ढपली और अपना राग बजाने का अनुचित सुयोग पा गये हैं। पारस्परिक खीचतान का दुष्परिणाम यह हो रहा है कि सम्मेलन की परीक्षाओ में योग्यता का पैमाना गिरता चला जा रहा है। गिनती के लिये रत्नो और विशारदो और विद्यावाचस्पतियो की सख्या में वृद्धि भले हो रही हो, किन्तु वास्त-

विक योग्यता के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं। इसका भयावह दुष्परिणाम यह है कि कुछ ही काल में हमारे भावी साहित्य का निर्माण अयोग्य और अधकच्चरे हाथो में पडकर अपना महत्व खो बैठेगा।

भारत आज स्वतत्र देश है, ज्ञान गुरुता का दावा उसका अति प्राचीन रहा है। हमें भूलना न होगा कि आज हमारी होड जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्तंप्रातीय नही है, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय है। आज के हिन्दी साहित्य को खडा होना होगा अग्रेजी, फ्रेंच, रशन, जर्मन और अमेरिकन साहित्य के मुकावले में। कल तक हम गुलाम थे, अपनी विविध अयोग्यताओ एव हीनताओ का ठीकरा हम अपने शासको के मत्थे मजे से फोड सकते थे किन्तु आज वह दलील काम न देगी। साहित्य का निर्माण सस्ता नही हुआ करता और न उसके पैमाने किसी के अपने होते हैं। उसका खरापन किसी भी देश या जाति की वास्तविक उन्नति, उसकी अर्जित ईमानदारी और तपस्या की कसौटी पर निखरा करता है। यदि यह सत्य है तो हिन्दी के कर्णधारो की भावी नीति क्या होनी चाहिये यह वताने की आवश्कता नहीं।

हिन्दी आज केवल हिन्दी भाषा-भाषियो की ही नही, भारतीय राष्ट्र की पवित्रवाणी है। राष्ट्र के सच्चे सेवको द्वारा युगो पहले राष्ट्रवाणी के प्रासाद की नींव डाली गई थी, अगणित मनस्वियो और तपस्वियो की लगन से। आज वही प्रासाद अपने उत्तुग शिखर को स्वतत्र भारत के गगन में उन्नत किए हुए सात्विक गर्व के साथ खडा हो सका है और वह शुभ मुहूर्त आ उपस्थित हुआ है कि हमारा राष्ट्र उसे अपनाकर उसके द्वारा ससार में अपना मस्तक ऊँचा कर सके। इने गिने गुमराह स्वार्थ-लोलुप व्यक्ति अपनी नासमझी में उसकी नीव कमजोर न करने पावें इसी में राष्ट्र का कल्याण है। यह भूलना न होगा कि यदि विवेकीजन इस समय अपना कर्त्तव्य भूल गये, वांछित दृढता खो वैठे और कहीं दुर्भाग्य से इन नासमझो को खुलकर खेलने का मौका दे दिया गया तो यह गगनचुम्वी प्रासाद एक वार गिरकर फिर वनाये न वनेगा।

"मैयखानाए योरोप के कुछ ढंग निराले हैं
लाते हैं सुरूर अव्वल देते हैं शराब अखिर"

सदियो का यह गुलाम भारत न जाने किस पुण्य के कारण अभी उस दिन फिर एक बार उन्मुक्त वातावरण में सास ले सका। स्वाधीनता-समीर की मादकता सहज और वर्णनातीत होती ही है। पिंजडे का वन्दी पक्षी यदि भाग्य से खुल पाये तो उसके शरीर और मन में एक विचित्र द्वन्द्व होता है। मन उडकर आकाश छू लेना चाहता है, किन्तु वन्दी जीवन में क्षीण हुए डैने उडने नही देते, वारम्बार फिर उसी पिंजडे की शरण लेने का सकेत देते हैं। हमारी यह दशा अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा राष्ट्र भाषा, राष्ट्र लिपि इत्यादि के क्षेत्रों में जितनी स्पष्ट देखी जा सकती है उतनी कदाचित् अन्यत्र नही।

नेता-बहुल आज का भारतीय समाज कुछ सकटापन्न सा हो रहा है, जिसे देखिये वही, जो जरा जुबान खोल सकता है या जोर से बोल सकता है, वह किसी न किसी प्रकार के विधान-प्राप्त स्वातन्त्र्य के नाम पर अपनी वात केवल कहना ही नही चाहता वरन् उसे सबको मनवा देने का भी अपना अधिकार समझता है।

देश स्वतत्र हो गया लेकिन स्वातत्र्य-युद्ध के प्रारम्भ में ही तिलक, गोखले, श्रीनिवास शास्त्री, महात्मा गाँधी प्रभृति नेता राष्ट्र भाषा-शस्त्र की अमोघता को पूर्ण रूप से समझ चुके थे। स्वतत्रता के दुर्लभ वरदान की प्राप्ति में जहाँ अन्य विविध बलो की सहायता ली गयी थी, वही स्वय-सिद्ध राष्ट्र भाषा का अपना बल भी किसी से कम महत्वपूर्ण न था और शायद इस तथ्य से किसी भी ईमानदार भारतीय को इनकार भी न हो सकता था। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि स्वतत्र हो जाने के वाद देश के विविध नेतागणो को न जाने क्यो राष्ट्र भाषा की उपयोगिता, आवश्यकता

तथा उसके रूप इत्यादि के सम्बन्ध में फिर से कायल होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। असामयिक असमजस का यह स्वाग कुछ अनपेक्षित रहस्य से आवृत्त जान पडता है। कहावत प्रसिद्ध है, 'बुरी आदतें बहुत देर में पीछा छोडती हैं।' भले ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये हमें खून की नदियाँ न बहानी पडी हो, किलेबदी करके युद्ध न करना पडा हो, किंतु सघर्ष तो करना ही पडा था और यह सघर्ष-काल एक दो दिन का नही, कम से कम पूरे अठत्तर वर्ष का तो था ही और धीरे-धीरे सघर्षप्रिय हो जाना ही शायद इस पीढी के लोगो का स्वभाव भी बन गया होगा। क्योंकि आज भी हम प्राय देखते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र में अपने पुराने लडाकू स्वभाव के कारण निर्माण और सहमति की कम, विरोध की ही अधिक प्रवृत्ति हम में रहती है। यह फल है बुरी आदत का और इस प्रकार के अवाछनीय कठमुल्लेपन में सस्ती लीडरी का शौक भी अपना हाथ कम नही रखता, क्योकि रूप-रेखा में यह युग जनतत्रता का है जिसमें स्वार्थ-साधना की हर मजिल में किसी न किसी प्रकार की नेतागिरी, आवश्यक शर्त है। विधान परिषद् देश की प्रतिनिधि सस्था थी। उसे सभी अधिकार दे दिए गये थे पूर्ण विश्वास के साथ। उसने अपनी पूर्ण-विवेक-बुद्धि से देश और जाति के हित को दृष्टि में रखते हुए निष्पक्ष निर्णय कर दिया कि, जाति-सेवा का गुरुतर भार देश की सबसे अधिक समर्थ जनवाणी हिंदी के ही कन्धो पर रखा जाय।

आज के स्वतन्त्र भारत में सतयुगी ईमानदारी की किरणें तो अभी नही फूटी, लेकिन हां मेधावी -कहलानेवालो में भी, उनके मन का मैल अवश्य मचल-मचल कर उफनाने लगा है। इस कोटि के लोगो को देखने से तो कुछ ऐसा लगता है कि स्वराज के नाम पर स्वतत्र शासन तो इनके लिये गले पडा ढोल है, लेकिन शायद खुश ये गुलामी में ही अधिक थे, क्योकि आज भी इनका दावा है कि ये ख्वाब अग्रेजी में ही देखते हैं। पुश्तैनी गुलामी इनके दिलो में कुछ इस तरह घर कर बैठी है कि ये अपनी वाणी तथा बुद्धि को अग्रेजी न सही, अग्रेजियत के हाथ ही कौडी मोल बेचने को तैयार बैठे हैं। साथ ही धेलवे में रहा-सहा ईमान भी डडी पर चढा हुआ है। इनकी राय में मुक्ति मागे इनकी बलाय।' और अपने इस विलक्षण दृष्टिकोण के पीछे पगपग पर इन का आधार है 'स्वतत्र भारत के नागरिक का विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार।'

यहाँ तक बात ग़लत नही। स्वतन्त्रता के युग में 'विचार स्वातन्त्र्य' की स्वीकृति तो जनतन्त्रता की भित्ति की पहली ईंट मानी जाती है। लेकिन 'विचार स्वातन्त्र्य और 'बुद्धि स्वातन्त्र्य' दोनो एक ही नही। और परम वन्द्य तथा चिरवांछित स्वतन्त्रता भी व्यावहारिक क्षेत्र में परतन्त्रता से भी अधिक कठोर आत्म-सयम एव आत्म-नियमन की अपेक्षा करती है, अन्यथा शायद स्वतन्त्रता का वरदान क्षणो में ही उच्छृखलता के अभिशाप में परिवर्तित हो सकता है और तब देखते-देखते लोग क्रिया-स्वातन्त्र्य का अधिकार बिना मागे ही अपना समझ कर ले बैठ सकते हैं और जीवन, क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक, और क्या चारित्रिक, विभीषिका में परिवर्तित हो सकता है।

अभी उस दिन भारत के ही क्यो, शायद अन्तर्राष्ट्र के माने हुए एक साहित्यिक महारथी के दर्शन हुए। कितनी भाषाएँ और कितने साहित्य उनके पाडित्यपूर्ण अध्ययन से पवित्र हो चुके है, यह कहना कठिन है। हिन्दी का प्रश्न भी शायद युगो से उनके चिन्तन का विषय रहा है, इसकी गुत्थी सुलझाने या उलझाने में भी उनका योग कम नही। समर्थक तो वे आज भी अपने आप को हिन्दी का ही घोषित करते हैं। किन्तु घोर स्वतन्त्रता के इस युग में भी हिन्दी या राष्ट्रभाषा, व्याकरण या परम्पराओ की मर्यादा में बँधी हुई, उन्मत्त उच्छृखलता की अधिकारिणी न हो, यह इन हिन्दी-हितैषी महोदय को पसन्द नही। हिन्दी को यह अधिकार वे दिलाना चाहते थे 'वैज्ञानिक ढग से' या तथाकथित वैज्ञानिकता की आड लेकर। पग-पग पर उनके पाडित्यपूर्ण व्याख्यानो में समस्या उठती सी देख पडती थी कि हिन्दी के विविध शब्दो का लिंग-भेद किन तर्कों पर आधारित है? हिन्दी के मुहावरे और उसकी प्रचलित कहावतें किन तर्कों से समर्थित हैं और यदि हिन्दी के समर्थक उचित और मान्य तर्क देने में असमर्थ हैं तो कोई कारण नही कि ऐसे विवादास्पद व्याकरण के प्रतिबन्ध तोड न फेंके जायँ?

नि सन्देह, आधुनिक युग विज्ञान का युग कहलाता है और इसकी मान्यता भी यही है कि वैज्ञानिक अपनी सिद्धि तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह प्रत्येक प्रस्तुत विषय की छानबीन इस छोटे शब्द 'क्यो' की कसौटी से प्रारम्भ करके अन्त तक अपनी जिज्ञासा शान्त करता चला जाय और हर कदम पर दूसरे प्रश्न 'कैसे' का निष्कर्ष भी प्रस्तुत करने में समर्थ हो। सिद्धान्त भौतिक विज्ञान की दुनियाँ का यह धर्म अमान्य नही कहा जा

नकता, किन्तु क्या यह भी वताने की आवश्यकता होगी कि प्रत्येक क्षेत्र का वर्म अपना अलग-अलग हुआ करता है ? अच्छा होता यदि कोई पडित यह सिद्ध कर सकता कि व्याकरण के नियम—चाहे किसी भापा के क्यो न हो—तर्काधारित होते हैं। जहाँ तक विदित है ससार में 'सस्कृत' और 'अरवी' यही दो भापाएँ ऐसी मानी जाती है जिनका व्याकरण केवल पुष्ट ही नही, वरन् पूर्ण वैज्ञानिक भी माना जाता है। हिन्दी अग्रेजी या अन्य किसी प्रचलित भापा की तो वात ही क्या, क्योकि प्रतिक्षण नवरूप ग्रहण करते रहना ही इनका जीवन है। लेकिन क्या सस्कृत और अरवी ही अपने व्याकरण-सिद्ध प्रत्येक निर्णय की कैफ़ियत देने के लिये प्रस्तुत हैं ?

'दार' जैसा शब्द जो नैसर्गिक लिग भेद से युक्त स्त्री वाचक है। लेकिन सस्कृत में पुल्लिग की कोटि में कैसे परिगणित हुआ ? अरवी भापा के शब्दो की 'ज़' ध्वनि के लिये कही 'ज़ेर', कही 'ज़वर' के विविध निर्धारण किन तर्को पर आधारित हैं ? 'पी' 'यू' 'टी'—'पुट', 'वी' 'यू' 'टी' 'वट' किस न्याय से समर्थित हैं ? 'स्किन' जिसका अर्थ है चमडा, 'गेम' जिनका अर्थ है खेल, यह 'स्किनगेम' कहाँ से किस ध्वनि के मत्थे धोखाधडी का अर्थ ले वैठा है ? वगाल में 'पटल' का अर्थ होता है, परवल और 'तोला' का अर्थ है उठाना, यह 'पटलतोला' मुहाविरा वंगला भापा में 'मृत्यु' का वाचक कैसे हो वैठा ? यह आज तक किसी जिज्ञासु ने पूछने की जुर्रत नहीं की। तव समझने में ज़रा असमजस होता है कि अनावश्यक न्याय और तर्क का यह प्रेम हिन्दी के सम्वन्ध में ही क्यों इतना ज़ोर पकड़ जाया करता है। अन्य भापा-क्षेत्रो में व्याकरण-विपयक मान्यता है वोल-चाल की पुष्ट परम्परा, किन्तु हिन्दी में माग की जाती है तर्क और न्याय की। अग्रेज़ी के लिए उन्ही आदरणीय विद्वान् के कथनानुसार वर्नार्ड शा की दी हुई 'व्रोकन इगलिश' की उपाधि अग्रेज़ी का आभूपण है, किन्तु हिन्दी व्याकरण की तथाकथित तर्कशून्यता हिन्दी की व्याधि है और शायद उसका कलक !

हिन्दी राष्ट्रभापा क्या मान ली गयी, जान पडता है हिन्दीवालो पर वडा भारी अहसान किया गया। हमसे माग पेश की जाती है कि अहिन्दी भापा-भापी जव हिन्दी सीखेंगे तव हिन्दीवालो को अनिवार्यरूप से अन्य किसी प्रान्त की भापा सीखनी होगी। घुडदौड का एक नियम तो वहुत दिनो से सुना जाता है, कि दौड होने के पहले घोड़े तौले जाते हैं, जिसका

वज़न कम होता है उसे वढाकर अन्य भारी घोडो के समान करने के लिए उसकी पीठ पर शीशे की थैलियाँ बाँध दी जाती है। वहाँ का यह नियम तो समझ में आता है, क्योकि वह अड्डा है जुआडियो का, आना-पाई जोडने वाले, असात्विक भावना वाले प्राणियों का, किन्तु ज्ञान का क्षेत्र अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से ही आमूल सात्विकता का क्षेत्र है। इसमें लेन-देन की यह ओछी माग क्या अर्थ रखती है? भाषा सीखना बुरा नही। एक ही भाषा क्यो, यदि कोई ससार की सभी भाषाएँ सीख ले तो अच्छा ही है, किन्तु यह अनोखी माग कैसी और क्यो ?

इनकी एक शिकायत और है, कि हिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी की राष्ट्रभाषा की स्वीकृति के लिए अन्य भाषाभाषियो के उपकृत क्यो नही होते। यदि यह उपकार हिन्दीवालो पर इस निमित्त रखा जाता है, कि जैसे उन पर किसी प्रकार का अहसान किया गया हो, तो हमें कहने में सकोच न होना चाहिए कि यह माग घृणित है और उपेक्षणीय भी। किन्तु हाँ यदि इसके पीछे भावना यह हो कि यह महत्वपूर्ण मान्यता जातीयता की सत्प्रेरणा की द्योतिका है, तब ज़रूर हिन्दी भाषा-भाषी केवल हर्षित ही नही होगे वरन् देशवासियो को मुक्तकठ से उनकी सद्‌बुद्धि के लिए और उनकी सत्-चेतना के लिए बधाई देंगे और उनकी प्रशसा करेगे। वह दिन दूर न होगा जब देश का बच्चा-बच्चा, चाहे वह किसी अचल का क्यो न हो, इस महत्व-पूर्ण राष्ट्र भाषा के निर्णय के लिए अपने को धन्य मानेगा। और हिन्दी-वाले राष्ट्र सेवा में किसी से न पीछे कभी रहे हैं, और न रहेंगे। यदि राष्ट्र भाषा की मान्यता हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है, तो इस गौरव को धारण करके हिन्दी ने अपना उत्तरदायित्व भी असाधारण और असीम कर लिया है। हिन्दी भाषा-भाषी अपने इस पावन कर्त्तव्य से उदासीन नही।

'ये हैं इस क़दर मुहज़्ज़ब, कभी 'मां' का मुँह न देखा'

ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा मनुष्य में जितनी स्वाभाविक है उतनी ही या उससे भी अधिक प्रवल इच्छा उसमें आत्म-प्रकाशन की भी है। युगो से होनेवाली साहित्य की निरन्तर वृद्धि का यही रहस्य है। मनुष्य की मानसिक उन्नति के यही दो साधन हैं। प्राचीनतम काल से लेकर आज तक की सारी सभ्यता की नीव इन्ही आधारो पर है। यही प्रेरणा एक देश को दूसरे देश के प्रति या एक जन-समूह को दूसरे जन-समूह के प्रति आकर्षित करती रहती है। इन्ही भावनाओ के वश ज्ञान का पारस्परिक विनिमय हुआ करता है।

अन्य समकालीन सभ्य देशो के साथ भारत का ज्ञान विषयक आदान-प्रदान वहुत पुराना है। यह कहना निराधार होगा कि भारत का पाश्चात्य देशो के साथ परिचय अंग्रेज़ी शासन के वाद या उसकी वदौलत हुआ था, अंग्रेजो या उनके शासन काल की तो वात ही क्या, अपने छोटे से टापू में जव ये सभ्य भी न हो पाये थे, उस समय भी भारत अपने ज्ञान के प्रकाश से दुनिया के अंधकार को मिटाने की कोशिश कर रहा था।[1]

न केवल दार्शनिक सिद्धान्तो का निदर्शन ही, वरन् सामाजिक जीवन की जटिल से जटिल समस्याओ का हल भी भारतीय प्रतिभा की ही देन है। गम्भीर तत्वो की गम्भीर गवेषणा 'मानव चिन्ता' की उच्च साधना कहलाती है। लेकिन अपने उच्चतम शिखर पर पहुँचकर ज्ञान का सलिल जव सरस होकर सुलभ स्रोतो द्वारा प्रवाहित होने लगता है, तव उस समय साधना की चरम सीमा का संकेत मिलता है। यह सौभाग्य संसार की सभ्यता के इतिहास में कितने देशो को प्राप्त हो सका ?

१ 'भारत और अरव के सम्वन्ध'—सुलेमान नदवी

दार्शनिक और विचारक तो प्राय सभी देशो में होते आए हैं किन्तु अन्य सभी देशो में तत्वचिन्ता तथा तत्व-साधना अपने प्रकट रूप में प्राय गम्भीरता की परिधि से बाहर नही निकल सकी। परन्तु उस ओर प्राचीन भारत का प्रयास असाधारण था। हमारे तमाम पुराने कथा-सग्रह[1] इसके प्रमाण हैं। गहरे से गहरे सत्य, ज्ञान की दुरूह गुत्थियाँ, सुलझकर केवल दार्शनिक के दिमाग़ तक ही सीमित न रही, वरन् इन सरल कथाओ द्वारा, जिनमें कभी-कभी विविध पशु-पक्षी ही माध्यम हैं, सारे सत्य जनसाधारण की सम्पत्ति बना दिये गये थे। ज्ञान का इतना सर्वव्यापक तथा विस्तृत प्रकाशन इससे पहले कब और कहाँ हुआ था? क्या आज भी यह सिद्ध करना होगा कि 'ईसप' की कहानियो या 'आरब्योपन्यास' जैसी प्रख्यात विदेशी ज्ञान-निधियो की नीव हमारे यहाँ के कोने-कोने में फैली हुई विविध कहानियो को सामने रख कर उठाई गयी थी। हमारे इन विस्तृत ज्ञान-स्रोतो से अपनी-अपनी प्यास बुझाने का उद्योग किस-किस देश ने नही किया? किन्तु कोई क्या अनुकरण की सीमा के आगे भी बढ़ सका? किन्तु यह अनुपम और असाधारण उदारता भी आज के प्राचीन भारत के आलोचकवर्ग को या तो सूझ ही नही पडती या उसमें वह कोई विशेषता ही नही देख पाता।

आए दिन प्राचीन भारत के आदरणीय आचार्यों पर व्यर्थ बुद्धि विला-सिनी टिप्पणियाँ[2] देखने में आती हैं। ऐसी टिप्पणियाँ यदि मूढ व्यक्तियो द्वारा लिखी जातीं या उनका लक्ष्य केवल 'विधर्म द्वेष की भावना' तक ही सीमित होता, तब तो उनकी उपेक्षा भी कर दी जाती, केवल यह सोच-कर कि, या तो लेखक का प्रमाद है या लेखक विदेशी 'हापकिन कम्पनी' का दल्लाल है। किन्तु खेद तो तब होता है, जब ऐसी निराधार कल्पना-प्रसूत टीका-टिप्पणी सत्य और न्याय की दुहाई देकर ऐसे व्यक्तियो द्वारा की जाती हैं जो 'परमज्ञानी' और 'अध्ययनशील' होने का भी दावा करते हैं। जब इन टीका-टिप्पणियो का मूल धार्मिक विद्वेष हो तथा इनका लक्ष्य

---

१ 'जातकों से लेकर महाभारत, उपदेश कथा मंजरी, हितोपदेश, पचतंत्र, कथा सरित्सागर इत्यादि।

२. वाल्मीकि ने अयोध्या नाम का प्रचार किया, जब उन्होंने अपनी रामायण को पुष्य-मित्र या उसके शुगवंश के शासन काल में लिखा था' (विशाल भारत ७।१९४२ पृ० ९४)

हो आदरणीय व्यक्तियो[1] द्वारा चिर सुपोषित और पूज्य सामाजिक व्यवस्थाओ तथा हमारी प्रियतम[2] कलाओ के विविध आदर्शों की ओछी खिल्ली उडाना और वह भी तथाकथित विद्वत्ता की आड में, तब तो उनकी उपेक्षा नही की जा सकती।

घोर परिवर्तनो के इस युग में भी एक साधारण भारतीय अपनी सभ्यता की उस दृढ नीव पर खडा है जिसको युगो की आंधी और ववन्डर भी न डिगा सके, और जो आज भी विनाश के यज्ञ में स्वाहा होने वाले ससार को शाति और सात्विकता का सदेश देने का दावा रखती है ?[3] यह भारत का थोथा गर्व नही। हममें से जिन्हें भी विदेशी विचारको से मिलने का अवसर मिला होगा, वे कह सकेंगे कि प्राय वहाँ का प्रत्येक समझदार व्यक्ति आज पाश्चात्य सभ्यता के खोखलेपन का वडा बुरा अनुभव कर रहा है। उसकी उस दोहाई में यहाँ के नये सदेश की भिक्षा का सकेत भी प्राय मिला ही करता है।

यह एक और घोर विषम परिस्थिति है कि विदेशी तो हमसे जीवन के आदर्शों और न्यायोचित सामाजिक सगठन की दीक्षा लेने के लिये उत्सुक हो, और हमारे यहाँ के स्वनामधन्य विचारक विदेशी क़लई पर कुछ इस तरह लट्टू हो जायें कि सत्य-असत्य का विवेक ही खो बैठें।

इन गुमराहो की केवल आलोचना ही काफी नही, वरन् यह भी देखने की आवश्यकता है कि उनकी इस अनपेक्षित गुमराहियत का कारण क्या है ? सम्भव है इस दल के कुछ व्यक्ति केवल प्रमाद के ही शिकार हो, कुछ ऐसे भी होगे जो 'बदनाम होगे, तो क्या नाम न होगा', वाली

१ 'कदाचित् व्यास और वाल्मीकि कोई व्यक्ति न थे, वरन् 'मुन्शी' या 'लेखक' जैसे कोई पद रहे होंगे (विन्टरनीज 'भारतीय साहित्य का इतिहास और Ancient India by Rai Choudhury, P. 16)

.२ रामायण की कथा में ग्रीस का प्रभाव प्रत्यक्ष है' (वेबर तथा उसके आधार पर अनेक भारतीय)

3 "A civilization based on material prosperity has reached its height in the west, but along with its as escecudence it has also out lived it self. To-day it stands bankrupt and spent up and India has once again to play its role as the giver of life and peace." (S. Radha Krishnan-Kamala Lectures I)

कहावत को चरितार्थ करके शायद सस्ती ख्याति की फिराक में हो। किन्तु कुछ का तो यही ईमान है कि भारतीय सभ्यता जैसी अनुकरणीय या गर्व करने लायक शायद कोई चीज़ ही नही थी। वाल्मीकि, व्यास, राम या कृष्ण जैसी विभूतियाँ भी शायद कवि-कल्पना से अधिक कुछ नही, वर्णाश्रम धर्म जैसी सुदृढ एव सयत सामाजिक व्यवस्था 'ब्राह्मणो की बर्बरता के ज्वलत उदाहरण' के अलावा और कुछ नही। हमारी मूर्तिकला या स्थापत्य-कला या हमारे नाटक आदि यूनान इत्यादि पाश्चात्य देशो की देन के अतिरिक्त और कुछ नही।

आधुनिक युग की योरोपीय विचार-धारा से जिनका परिचय है वे भलीभाँति जानते है कि लगभग सत्रहवी शताब्दी के अन्त से ही योरोपीय विद्वानो का भारतीय साहित्य एव कला से कुछ गहरा सम्पर्क हो चला था। इसका विस्तृत इतिहास भी एक रोचक कहानी है, किन्तु उसके लिए यह अवसर उपयुक्त नही है। यहाँ तो केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि लगभग १८ वी शताब्दी के अन्त में तथा १९वी के प्रारम्भ में योरोप के अनेक देशो में, जैसे जर्मनी और इटली में, विशेषकर भारतीय ज्ञान की खोज का विशेष उद्योग प्रारम्भ हो चुका था। न जाने वहाँ से कितने मेधावी विद्वान् सस्कृत, पाली, प्राकृत इत्यादि भाषाओ के सीखने में रात-दिन एक कर रहे थे और कितनो ही का शौक उन्हें भारतवर्ष तक खीच लाया था। यह शौक अगरेज़ो में भी बढा, किन्तु इनमें अधिकाश व्यक्ति आई० सी० एस० दल के ही थे। यहाँ की कला, यहाँ का ज्ञान उन्हें भी आश्चर्य के पालनो में झुलाने तो लगा था, किन्तु वे एक क्षण के लिए भी यह न भूल पाते थे कि अगरेज़ होने के नाते ही वे यहाँ के शासक है। यह देश एक गुलाम देश है। इसकी सारी निधि शासक के उपभोग की वस्तु तो हो सकती है, किन्तु गर्व या सराहना की नही। और अपनी प्रत्येक मज़िल पर यूनान के अरस्तू और प्लेटो को गुरु माननेवाले ये अगरेज़ यह सिद्ध करने की चेष्टा में ही लगे रहे कि चूँकि यूनान और भारत का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है, अत भारत की सभ्यता और सस्कृति का एक-एक अग यूनानी छाप से विभूषित है। अर्थात् अरस्तू और प्लेटो ही भारत के भी ज्ञान-गुरु सिद्ध कर दिये गये।

विदेशी शिक्षा और पश्चिम के सम्पर्क के साथ ही साथ मानसिक गुलामी की गहराई भी बढ़ने लगी और धीरे-धीरे परिस्थिति कुछ यहाँ

सके, यह भी बहुत अच्छा हुआ"

य ही शिकायत रहती है कि "क्या छापें—
व मिलते हैं, न फडकती हुई कहानियाँ ही।"
कि इन पत्र-पत्रिकाओ में रहता ही क्या है
र्च किये जायँ या इकसठ, वासठ करते हुए
जायँ ? यदि इस प्रकार की शिकायत यदा-
ी भी कर दी जाती, किन्तु आये दिन का
य रखता है। यह दयनीय दशा केवल पत्र-
नहीं, प्रकाशित साहित्य के विविध अगो तक
ारतेन्दु जी के समय से अब तक सैकडो पत्र
ुके हैं। प्रकाशित पुस्तको की सख्या हजारो
निकल चुकी, लेकिन वह भी आज के ससार
ा भाषाओ के प्रकाशित साहित्य की तुलना में
भी ठहरेगी ?

ः इस युग में जीवित रहने की अभिलाषिणी
गतिविधि की ओर से आँखें नही वन्द रख
हमारे साहित्य की उपर्युक्त दयनीय दशा का
क्या युगो तक ससार पर वौद्धिक शासन
भारतीय मेधा-शक्ति आज कुठित हो गई
ारण कुछ और हैं ?

ाघारण भारतीय अन्य देश-निवासियो के
ही आ पाता था, किन्तु जापानी आतक के
ारे देश का कोना-कोना विदेशी जातियो के
सा ही वन गया था और हममे से प्रत्येक

"तुम न अच्छा कर सके, यह भी बहुत अच्छा हुआ"

सम्पादकों को प्राय नित्य ही शिकायत रहती है कि "क्या छापें—न अच्छे सामयिक चुटीले लेख मिलते हैं, न फडकती हुई कहानियाँ ही।" पाठक भी परेशान रहते हैं कि इन पत्र-पत्रिकाओ में रहता ही क्या है जिसके लिए गाँठ के पैसे खर्च किये जायँ या इकसठ, बासठ करते हुए पुस्तकालयो के दरवाजे झाँके जायँ? यदि इस प्रकार की शिकायत यदा-कदा सुनी जाती तो अनसुनी भी कर दी जाती, किन्तु आये दिन का यह उलाहना कुछ अर्थ अवश्य रखता है। यह दयनीय दशा केवल पत्र-पत्रिकाओ तक ही सीमित नही, प्रकाशित साहित्य के विविध अगो तक यह रोग पहुँच चुका है। भारतेन्दु जी के समय से अब तक सैकडो पत्र उदय होकर अस्त भी हो चुके हैं। प्रकाशित पुस्तको की सख्या हजारो की गिनती से भी बहुत आगे निकल चुकी, लेकिन वह भी आज के ससार की अन्य प्रगतिशील पाश्चात्य भाषाओ के प्रकाशित साहित्य की तुलना में 'पसघे' से क्या कुछ अधिक भी ठहरेगी?

प्रतियोगिताप्रधान आज के इस युग में जीवित रहने की अभिलाषिणी कोई जाति अपने साहित्य की गतिविधि की ओर से आँखें नहीं बन्द रख सकती। विचारणीय है कि हमारे साहित्य की उपर्युक्त दयनीय दशा का कारण क्या हो सकता है? क्या युगो तक ससार पर बौद्धिक शासन का एकच्छत्र राज्य करनेवाली भारतीय मेधा-शक्ति आज कुठित हो गई है? या इस पिछडेपन के कारण कुछ और हैं?

इस युग के पहले एक साधारण भारतीय अन्य देश-निवासियो के सम्पर्क में इतनी आसानी से नही आ पाता था, किन्तु जापानी आतक के कारण पिछले कुछ वर्षो से हमारे देश का कोना-कोना विदेशी जातियो के प्रतिनिधियो का प्राय. अखाडा-सा ही बन गया था और हममें से प्रत्येक

आधार समय तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है और होता भी जाता है। क्या इसकी व्यवस्था[1] भारतीय सभ्यता तथा समाज के विधायकों ने नहीं की थी ?

हमारे दुर्भाग्य एव अन्धकार के लगभग ६०० वर्षोंके लम्बे चौडे युग ने हमें कितना अधिक वदल डाला है कि हम अपने आपको भी भूल गये। इसी से दशा इतनी दयनीय हो चुकी है कि दिन के दिव्य प्रकाश की वात ही क्या, पश्चिम में जो टिमटिमाते वनावटी दीपक की रोशनी देख पडी तो उसी से हमारी आँखें चौंधिया गयी और हमें जिस रग में जो चीज़ दिखा दी गयी वही हम वावले की तरह देखते रह गये। यह मतिभ्रम और यह विवेकशून्यता यदि शीघ्र ही दूर नहीं हुई तो यही कहना पडेगा कि "इनका इलाज क्या हो, ये लाइलाज हैं।"

---

१ 'देश काल और परिस्थिति शास्त्र निर्माण के आधार होने चाहिये'। (पाराशर स्मृति २ श्लो० ६४)

आए दिन लेखको की दयनीय दशा पर आँसू वहाने का स्वाग देखा जाता है। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि यह ढोग भी रचा जाता है कुछ ऐसे व्यक्तियो के द्वारा, जो अपना परिचय लेखक कह कर देते हैं। दावा तो किया जाता है दीन लेखको की वकालत का, परन्तु जिस ढग से यह वकालत की जाती है, वह उनकी सद्भावना का सशयात्मक रूप ही उपस्थित करती है। कुछ दिन हुए, कलकत्ते की एक विख्यात मासिक पत्रिका में इसी विषय का एक लम्वा-चौडा लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें एक प्राचीन किन्तु परम आदरणीय हिन्दी के सेवक की दरिद्रता की करुण कहानी का पर्दाफ़ाश किया गया था। दयनीयता की पराकाष्ठा तो यह थी कि वह अपने ज़माने का कलम का धनी अपने गिरे दिनो म 'प्रूफ़-रीडरी' की भिक्षा भी न पा सका। अन्य चोटी के लेखको के आय-व्यय के खाते भी, उनके प्रतिवाद के वावजूद भी, जनता के सामने खोलकर रख ही दिये गये। उसी पत्रिका के एक और अक में एक ऐसे ही ऊँचे दर्जे के कहानी-लेखक के जीवन की करुण कहानी खोलकर दुनियाँ के सामने 'ज़लील करने के लिए नहीं', (?) वरन् मैत्री की 'सौजन्यपूर्ण सहानुभूति प्राप्त करने के लिए' (?) सुनायी गई थी। आह भरे स्वर में अनेक सन्तानो के इस पिता ने लिखा था कि, "भाई मेरे! मैं तो दो टुकडे रोटी और एक प्याले चाय पर इस जर्जर शरीर को किसी प्रकार रख भी सकता हूँ, लेकिन इन भूखे वच्चो को कैसे समझाऊँ . ?"

यह तो निश्चित है कि उपर्युक्त सारे उद्धरण तथा दयनीय दशा के रहस्य छिपे थे व्यक्तिगत ढग से लिखे गए निजी पत्रो में और शायद प्रकाशनार्थ नही। लेकिन खुदा के वन्दे इन हमदर्दों (?) ने अपना फ़र्ज़ अदा करके ही छोडा। निजी पत्रो के ऐसे प्रकाशन को क्या उचित कहा जा सकता है? लेखक या कलाकार स्वभाव से ही अन्य जनो की अपेक्षा शायद अधिक ही सकोचशील एव तकल्लुफ़पसन्द होता है। उसका नैसर्गिक शील तथा आत्मसम्मान यह कभी भी स्वीकार नहीं करता कि वह ससार के सामने हाथ पसारता फिरे। गोपनीय, व्यक्तिगत राज़ो को केवल अपने सस्ते निजी 'प्रोपेगेण्डा' के लिए इस तरह खोलकर रख देना औचित्य की सीमा के वाहर की चीज़ है। यदि कहा जाय कि सहानुभूतिपूर्ण सद्भावना की प्रेरणा से यह किया गया था, तो यह दावा भी झूठा ही सिद्ध होगा, क्योकि यह या इसी कोटि के व्यक्ति यह कहते भी देखे गये

को किसी न किसी कारणवश एक क्या, अनेक के सम्पर्क में अधिक घनिष्ट रूप से आना ही पडता था। इस घनिष्ठ सम्पर्क के बाद यह कहने में सकोच नही होता कि मेघा-शक्ति में आज भी एक साधारण भारतीय अन्य देशवालो से हाथ भर आगे ही है, अत उपर्युक्त भय निर्मूल हो जाता है। किन्तु यह उपर्युक्त निष्कर्प आज के हमारे साहित्य के पिछडेपन की समस्या का हल तो नही। तब क्या हम यह कहें कि शक्ति के होते हुए भी समुचित सुविधाएँ न होने के कारण हम इस होड में पीछे रह जाते हैं। माना कि पराधीनता का अभिशाप अनेक रूपो में हमारे पौरुप और हमारी शक्तियो का ह्रास किया करता था, लेकिन यह भी तो उतना ही सत्य है कि हमारी मेघा-शक्ति की बलि दी जा रही है हमारे ही इने-गिने स्वार्थान्ध स्वजनो के द्वारा।

युग बीत गये पत्र-सचालको एव पुस्तक-प्रकाशको से सुनते-सुनते कि "इन व्यवसायो में धरा ही क्या है? इस ओर कदम उठाते ही सिवा घाटे के लाभ का मुँह देखना नसीब नही होता।" लेकिन आश्चर्य की सीमा नही रहती यह देखकर कि यही 'घाटा देनेवाले' बिना किसी लाटरी का टिकट जीते या बिना किसी 'कोट्यधीश' पुरखे की अपार सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त किये ही, कुछ ही वर्षों में लखपतियो की कोटि में बैठने के हकदार बनते देखे जाते हैं। चालीस रुपये की मास्टरी से जीवन प्रारम्भ करनेवाला व्यक्ति पत्र-सचालक बनते ही कुछ ही वर्षों में लाखो का स्वामी होकर लक्ष्मी का लाडला बन बैठता है। दस रुपये की औकात की परचून की दूकान का मालिक पुस्तक-प्रकाशक बनते ही सोने के ढेर पर आसीन हो धन्नासेठ कहलाने लगता है और यह सारा कायापलट हो जाता है, जिन्दगी भर 'घाटा देते-देते।'

कहावत यही प्रचलित है कि 'लक्ष्मी और सरस्वती में सनातन बैर है।' कहावत पुरानी है, गलत कैसे कही जाय? उपर्युक्त घटनाएँ आँखो देखी है, वे भी असत्य नही। तब हमारे देश में इसका रहस्य कदाचित् यही है कि सरस्वती के व्यवसायियो से नही, वरन् सरस्वती के सेवको से ही लक्ष्मी का द्वेष है, क्योकि उनमें सरस्वती की कृपा से कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म, उचित-अनुचित की प्रवृति इतनी दृढ़ हो जाती है कि वे लक्ष्मी के प्रिय वाहनो की क्रूर एव मक्कारी की नीति का व्यवहार नही कर पाते, और न लक्ष्मी-कृपा के भाजन ही बन पाते है।

आए दिन लेखकों की दयनीय दशा पर आँसू बहाने का स्वांग देखा जाता है। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि यह ढोंग भी रचा जाता है कुछ ऐसे व्यक्तियों के द्वारा, जो अपना परिचय लेखक कह कर देते हैं। दावा तो किया जाता है दीन लेखकों की वकालत का, परन्तु जिस ढंग से यह वकालत की जाती है, वह उनकी सद्भावना का संशयात्मक रूप ही उपस्थित करती है। कुछ दिन हुए, कलकत्ते की एक विख्यात मासिक पत्रिका में इसी विषय का एक लम्बा-चौड़ा लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें एक प्राचीन किन्तु परम आदरणीय हिन्दी के सेवक की दरिद्रता की करुण कहानी का पर्दाफ़ाश किया गया था। दयनीयता की पराकाष्ठा तो यह थी कि वह अपने जमाने का क़लम का धनी अपने गिरे दिनों म 'प्रूफ़-रीडरी' की भिक्षा भी न पा सका। अन्य चोटी के लेखकों के आय-व्यय के खाते भी, उनके प्रतिवाद के बावजूद भी, जनता के सामने खोलकर रख ही दिये गये। उसी पत्रिका के एक और अक में एक ऐसे ही ऊँचे दर्जे के कहानी-लेखक के जीवन की करुण कहानी खोलकर दुनियाँ के सामने 'ज़लील करने के लिए नहीं', (?) वरन् मैत्री की 'सौजन्यपूर्ण सहानुभूति प्राप्त करने के लिए' (?) सुनायी गई थी। आह भरे स्वर में अनेक सन्तानो के इस पिता ने लिखा था कि, "भाई मेरे! मैं तो दो टुकड़े रोटी और एक प्याले चाय पर इस जर्जर शरीर को किसी प्रकार रख भी सकता हूँ, लेकिन इन भूखे बच्चो को कैसे समझाऊँ .?"

यह तो निश्चित है कि उपर्युक्त सारे उद्धरण तथा दयनीय दशा के रहस्य छिपे थे व्यक्तिगत ढग से लिखे गए निजी पत्रो में और शायद प्रकाशनार्थ नही। लेकिन खुदा के वन्दे इन हमदर्दों (?) ने अपना फर्ज़ अदा करके ही छोडा। निजी पत्रो के ऐसे प्रकाशन को क्या उचित कहा जा सकता है? लेखक या कलाकार स्वभाव से ही अन्य जनो की अपेक्षा शायद अधिक ही सकोचशील एव तकल्लुफपसन्द होता है। उसका नैसर्गिक शील तथा आत्मसम्मान यह कभी भी स्वीकार नही करता कि वह ससार के सामने हाथ पसारता फिरे। गोपनीय, व्यक्तिगत राज़ो को केवल अपने सस्ते निजी 'प्रोपेगेण्डा' के लिए इस तरह खोलकर रख देना औचित्य की सीमा के वाहर की चीज़ है। यदि कहा जाय कि सहानुभूतिपूर्ण सद्भावना की प्रेरणा से यह किया गया था, तो यह दावा भी झूठा ही सिद्ध होगा, क्योंकि यह या इसी कोटि के व्यक्ति यह कहते भी देखे गये

है—"श्री प्रेमचन्द ही केवल एक ऐसे लेखक हैं, जिन्हें हमारे यहाँ मे पाँच रुपये पृष्ठ के हिसाव से पुरस्कार दिया गया है, और वह भी इसी-लिए कि वे विचारे अत्यन्त आर्थिक कष्ट में थे।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द जी जैसा चोटी का कलाकार भी इनकी ओछी दृष्टि में पाँच रुपये प्रति पृष्ठ के हिसाव से अधिक पारिश्रमिक पाने का हकदार नही था।

केवल यही नही, इन्ही की कोटि के और भी कितने ही ऐसे स्वनाम-धन्य उदारमना सम्पादक हिन्दी-ससार के भाग्यविवाता वने वैठे है, जो नि सकोच लिख सकते हैं कि "हम तो अपने पत्र में प्रकाशित लेखो पर अविक से अधिक छ रुपया प्रति लेख ही पुरस्कार देते हैं।" और तुर्रा यह है कि इस प्रकार का फतवा देनेवाले सम्पादक वे है जो अधिकारी लेखको के पास ऐसी गश्ती चिट्ठियाँ भेजते भी सकुचित नही होते कि "आप से अनुरोध है कि आप हमारे पत्र के लिए उत्कृष्ट रचनाएँ भेजें, क्योंकि अव हमने नियम वना लिया है कि हमारे यहाँ के प्रकाशित प्रत्येक लेख पर इतना पारिश्रमिक दिया जायेगा कि किसी भी सम्मानित लेखक को उसे स्वीकार करने में सकोच न होगा।" और, जैसा ऊपर वताया जा चुका है, इस महान् पारिश्रमिक की निधि है, रुपये छह!

विरला ही लेखक हिन्दी का ऐसा होगा जिसे ऐसो से भी पाला न पडा हो, जिन्होने पारिश्रमिक भेजने का वादा करके भी लेख यो ही हडप न लिए हो। हिन्दी कविता के 'नोवेल' पुरस्कार-विजेता और उसके सिरमौर होने का दावा करनेवाले एक 'अस्त' पत्रिका के सम्पादक, अनेक पुस्तक-मालाओ से सुशोभित प्रकाशक महोदय यह कहते नही थकते कि कितने ही हिन्दी के निराले कवि अथवा उपन्यास-कला के देदीप्यमान रत्न उनकी अपार आर्थिक सहायता के ऋणी हैं। परन्तु उनकी यह उदारता फिसलती हुई देखी गई पचीस रुपयो पर कि दर्जनो पत्रो में वादे करके भी वर्षों तक यह छोटी-सी रकम अदा न हो सकी।

सौजन्य की आन-वान पर अपने को मिटा देनेवाला हिन्दी का वह 'अक्खड त्रिशूली', वेमुल्क का नवाब वह अमीर सागरी या वह अज़ी-मुश्शान' कहानी कहनेवाला राजस्थानी चारण अपनी ऊँची से ऊँची योग्य-ताओ तथा प्रतिभा और उससे भी ऊँची अभिलाषाओ को लिए हुए ही

दरिद्रता की निर्मम गोद में सदा के लिए सो गया और साहित्य के ये ठेकेदार आज भी रुपये गिनने में मस्त हैं।

स्वार्थान्ध, अर्थलोलुप व्यवसायियो को यदि छोड भी दें, तो देखा जाता है कि साहित्य-सेवियो का निरादर, उनका अपमान तथा उनकी कठिनाइयाँ प्राय बढाई गई हैं उनके द्वारा—जो स्वय लेखक थे, और है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। ये हिन्दी में आये दिन एक न एक ववण्डर उठानेवाले सज्जन स्वय ही अपने विषय में लिखा करते है कि "अनेक वर्षों तक इन्होंने 'लीडर', 'प्रताप' इत्यादि कितने अखबारो की, जो उन्हे लेखक की हैसियत से मुफ्त मिला करते थे, रद्दी बेच-बेचकर अपनी रोटियाँ चलायी है।" किन्तु, सम्पादक की गद्दी पर बैठते ही वह अपने उन दिनो को भूल गये। अन्य लेखको को उन्हें यह लिखते सकोच नही हुआ कि 'पुरस्कार या पारिश्रमिक देने का हमने अपने यहाँ नियम ही नही रखा है और भेंट के नाते यदि हम कुछ देते है तो किसी को भी सात रुपये से अधिक नही।" मजाक तो यह है कि यही स्वनाम-धन्य सम्पादक 'पुन र्मुषिको भव' की कहावत को चरितार्थ करते हुए अन्य सम्पादको को तथा पत्र-सचालको को यह लिखने के लिए विवश हुए हैं कि 'मैं लेखनी के द्वारा अपनी जीविका अर्जित करने के लिए बाध्य हूँ, आपके यहाँ लिखना चाहता हूँ, क्या आप मुझे ग्यारह रुपये प्रति लेख के हिसाब से देने की दया करेंगे?'

मनुष्य अपने आपको कितनी जल्दी भूलता है यह देखकर आश्चर्य होता है। व्यवसायवृत्ति वाले पत्र-सचालक अथवा प्रकाशक यदि लेखको की आलोचना करें तो दूसरी बात है, परन्तु हमारे सम्पादक जिन्होंने अपना जीवन लेखक की हैसियत से ही प्रारम्भ किया था तथा शायद अन्त तक यही रह जाते हैं, ये यदि लेखको के हितो के प्रति उदासीन हो जायें, तो अचरज ही है।

कहा जाता है कि लेखक अथवा कलाकार ऐसी अवाछनीय परिस्थिति में लिखते ही क्यो हैं? उनसे मैं यह कहूँगा कि यदि स्वार्थ का परदा एक क्षण के लिए वे अपनी आँखो पर से हटा लें, तो उन्हें यह समझने में देर नही लगनी चाहिए कि सच्चा लेखक या सच्चा कलाकार जन्म से ही कुछ ऐसी प्रवृत्तियो एव प्रेरणाओ को लेकर आता है कि जो सुख या दु ख, कष्ट या कठिनाई की परवाह न करके भी उसकी कला तथा

लेखनी को चैन नही लेने देती। सुविधाएँ तथा अनुकूल परिस्थितियाँ कला के उत्थान में बहुत सहायक होती है, किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसी के विपरीत घातक सिद्ध होती हैं। यह प्रेरणा यदि सच्ची होती है, तो अजेय होना इसकी विशेषता है। उसका प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। उसकी यह प्रेरणा अपनी तुलना में उस नैसर्गिक मातृत्व के समान है, जो माता को शिशु से स्नेह करने के लिए विवश कर देती है, पौधो में फूल लगाकर ही छोडती है तथा फलवाले वृक्षो को फलो से लादकर ही छोडती है।

प्रकाशको एव सम्पादको पर कलाकार एव लेखको का दायित्व कदापि न होता, यदि वे उनकी लेखनी तथा उनकी कला के बलपर व्यवसाय करके धनी बनने की अभिलाषा न रखते। कला का प्रकाशन भी यदि उसी सात्विकता की भावना से तथा नि स्वार्थ वृत्ति से किया जाता, तब तो यह ससार शायद स्वर्ग बन जाता, लेकिन वास्तविकता को देखते हुए तो कुछ ऐसा समझना पडता है कि जिस प्रकार कलाकार या लेखक की प्रतिभा का उसकी लेखनी में फूट पडना अनिवार्य है, शायद उसी तरह अनिवार्य हो गयी है आज के व्यवसायी पत्रकार तथा पुस्तक-प्रकाशको की असात्विक द्रव्य के प्रति ममता एव आसक्ति।

नोट-गुल-गपाडे की थोथी नीति से घृणा के कारण तथा व्यक्तिगत आक्षेपो को बचाने की नीयत से उल्लिखित व्यक्तियो, घटनाओ तथा चरित्रो के नाम नही दिये गये हैं, परन्तु पाठक विश्वास रखें कि उपर्युक्त प्रत्येक विवरण सत्य प्रमाणो के आधार पर है।

'मेरी सादगी देख क्या चाहता हूँ' !

'वर्गीकरण' हमारे भारतीय जीवन की एक परम्परागत विशेषता है। इसी के अनुसार व्यवसाय भी प्राय यहाँ एक वर्ग विशेष की चीज़ बन बन गया है। जाति-विशेष से चाहे इसका सम्बन्ध न भी हो, किन्तु अन्य सभी प्रकार से जीवन का दृष्टिकोण कुछ ऐसे एक ही साँचे में ढला हुआ देख पडता है, कि इस कोटि के लोगो को एक वर्ग में रखना आवश्यक-सा हो जाता है। व्यक्तिगत रुचि-भेद एक अलग वस्तु है। किन्तु साधारणत यह कहना गलत न होगा कि हमारे 'व्यवसायी समाज' का दृष्टिकोण साहित्य के प्रति प्राय उदासीन-सा ही रहता है।

उपर्युक्त यह आलोचना यदि अधिक स्पष्ट की जाय तो पहले समझना होगा कि साहित्यिक रुचि का वास्तविक अर्थ क्या है तथा यदि उसका मूल्य आँकने की चेष्टा की जाय, तो वह क्या ठहरेगा ?

'मानसिक योगदान' को ही तो साहित्य कहते हैं। इसकी सीमा इतनी व्यापक तथा विस्तृत है कि उससे बिल्कुल अछूता रह जाना किसी के लिए सम्भव ही नहीं। उस विस्तृत अर्थ में तो व्यवसायी समाज को भी आए दिन उसके सम्पर्क में आना ही पडता है। परन्तु यहाँ साहित्य के जिस पार्श्व की ओर सकेत किया जा रहा है वह साहित्य का 'कलात्मक' वर्ग है।

इसकी ओर रुचि भी अनेक प्रकार की हो सकती है। सास्कृतिक ज्ञान तथा आनन्द के लिए उपर्युक्त प्रकार के साहित्य का पढ़ लेना एक बात है, परन्तु उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से साहित्य का अनुशीलन एक दूसरी चीज़ है। इसी प्रकार निर्माण के क्षेत्र में भी केवल धन की छोटी-मोटी सहायता से किसी साहित्य-सेवी के द्वारा कुछ लिखवा देना या प्रकाशित करा देना यह एक बात है, किन्तु स्वय कुछ लिखना या

नियमित रूप से 'साहित्य सृष्टि' की ओर सचेष्ट, सक्रिय एव जाग्रत रहना एक दूसरी ही चीज़ है।

उपर्युक्त आलोचना का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि 'अनुशीलन' या 'नियमित साहित्य की सृष्टि' के दृष्टिकोण से हमारे व्यवसायी समाज का योगदान कुछ इतना कम रहा है कि उसे सतोषप्रद तो किसी अर्थ में भी नही कहा जा सकता।

राजपूताना को ही यदि लेकर देखा जाय, तो इससे कौन इनकार कर सकेगा कि देश की साहित्यिक निधि की जो अमर सृष्टि अनादि काल से वहाँ होती चली आई है, उसके ऊपर कोई भी देश या कोई भी जन-समुदाय सात्विक गर्व कर सकता है और यह भी कम सत्य नही कि देश का व्यवसाय आधुनिक युग में प्राय वही के निवासियो का एकाधिकार है। रियासतो या उनके राजाओ की बात छोड भी दी जाय, तो लाखो और करोडो की तो बात नही, अरबो कमानेवाले व्यवसायी भी इसी राजस्थान के निवासी हैं, किन्तु उस 'अमर साहित्य के अनुशीलन' की तो बात दूर की है, उसकी सृष्टि, सकलन अथवा उसके उचित सरक्षण की ओर भी कितना उद्योग इस व्यवसायी समाज द्वारा किया गया है, यह एक प्रश्न है।

यदि यह समाज उचित साहित्यिक रुचि रखता या इसके जीवन में साहित्य को भी उचित स्थान मिला होता तो जागरूकता के इस युग में इस अमर साहित्य के सरक्षण, उसकी नव-सृष्टि तथा उसके उचित पठन-पाठन के लिए क्या कुछ नही किया जा सकता था? विशेष अध्ययन वाले विश्वविद्यालय, विशिष्ट केन्द्रो की तो बात ही दूर है, उस विशेष साहित्य के अध्ययन या अध्यापन के 'पीठ' (Chair) या उसके विशेष सग्रहालय तक आज कही नही देख पडते। समर्थ समाज की यह उपेक्षा कम दुखदायी नही।

केवल राजपुताना ही क्यो, उत्तर भारत की चप्पा-चप्पा ज़मीन भी साहित्य की सृष्टि तथा उसके निर्माण में प्राचीनतम समय से ही कितनी उर्वरा रही है इसे कौन नही जानता। इस विस्तृत भू-भाग के निवासियो का हाथ भी देश के व्यवसाय में कम नही रहा है। लक्ष्मी के कृपापात्रो की गणना में यहाँ के लोग भी किसी से पीछे नही ठहरेंगे। आधुनिक युग में भी लाखो के दान देनेवाले यहाँ पाये जाते हैं, परन्तु साहित्यिक रुचि का उनके जीवन में भी प्राय अभाव-सा ही देख पडता है।

माना कि जीवन की व्यस्तता में साहित्यिक अनुशीलन का इन कोटि के लोगो को अवसर नही, किन्तु यदि रुचि भी होती तो उसकी सृष्टि, उसके संरक्षण या निर्माण की चेष्टा तो इनमें भी देख पडती। किन्तु जब उसका भी अभाव हो तब रुचि या उत्साह मानने का क्या आधार हो सकता है? यह उदासीनता केवल व्यक्ति के लिए ही अवाछनीय नहीं वरन् सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी एक बड़ी त्रुटि है।

जीवन में साहित्य के प्रति उदासीनता का ही परिणाम है कि धीरे-धीरे मानसिक गुलामी की कड़ियाँ अधिक दृढ होती जाती हैं। अपनी संस्कृति का ज्ञान तो होने नहीं पाता, लेकिन अन्य अनिवार्य सम्पर्कों से विदेशी संस्कृति हम पर लदती चली जाती है। एक इतने बडे तथा प्रभावशाली समाज की यह दयनीय दशा राष्ट्रीय जीवनपर भी कम बुरा बुरा प्रभाव नही डालती।

लक्ष्मी के वरद पुत्र सरस्वती के भी वरद पुत्र न भी हो सकें तो कोई बात नहीं, किन्तु विमाता की-सी उसकी उपेक्षा सभ्य एव शिष्ट समाज का सदाचार नही।

'फिर ख़याल आया के मूसा बेवतन हो जायगा'

अभी उस दिन 'जनयुग' में डाक्टर रामविलास शर्मा का एक लेख देखने में आया, जिसमें साहित्य सम्मेलन की विविध त्रुटियो का उल्लेख करते हुए उन्होने पूछा है—पता नही साहित्यकारो से या सम्मेलन के कर्णधारों से—कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन किसकी सेवा करेगा ? हिन्दी साहित्य की या हिन्दू सम्प्रदायवाद की। यदि यह प्रश्न साहित्य-सेवियो से किया गया है तव तो यह इसलिए निरर्थक है कि प्रश्नकर्त्ता स्वय ही एक जाने-पहचाने साहित्यसेवी हैं। दूसरो से न पूछकर इसका उत्तर वे अपने दिल से ही पूछ लेते, परिस्थितियो से पूछते, युग की वहती हुई धारा से पूछते और साहित्य के अतीत और वर्तमान से पूछते, तो उन्हें उत्तर अधिक उपयुक्त और काम का मिलता। किन्तु, यदि यह प्रश्न साहित्य-सम्मेलन के कर्णधारो से पूछा गया है तो और भी अधिक निरर्थक है। क्योकि साहित्य-सम्मेलन की नीव की एक-एक ईंट साहित्य-सेवियो के द्वारा ही रखी गई है, उसकी सारी इमारत आज भी साहित्य-सेवियो के बाहुवल पर खडी है। उसके उत्तुग शिखर पर भले ही इनेगिने दो-एक अनुपयुक्त व्यक्ति कभी किसी प्रकार पहुँच गये हो और वहाँ से उन्होने थोडी-वहुत ताक-झाँक भी करली हो, यह बात दूसरी है।

डाक्टर रामविलास जी ने स्वय स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है कि इधर पिछले कई वर्षों से सम्मेलन का सारा ध्यान प्राय प्रचार-कार्यों में ही केन्द्रित रहा, यह ठीक है।

लेकिन प्रचार कार्य में भी देखना होगा कि साहित्य के प्रचार में या भाषा के प्रचार में। सभी यह जानते हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण राष्ट्रभाषा-प्रचार की समस्या उग्रतर हो उठी थी। सम्मेलन को छोडकर शायद कोई दूसरी सस्था इस ओर अग्रसर होने के लिए तैयार

नही थी और उसे वरबस यह काम अपने सर पर लेना पड़ा, जिसका निर्वाह भी उसने खूब किया। हिन्दी भाषा का प्रचार क्या हिन्दी की सेवा नही कही जायेगी ?

डाक्टर साहब की शिकायत यह है कि सम्मेलन ने भाषा का प्रचार भले ही किया हो, लेकिन अहिन्दी भाषा-भाषियो के हृदय में उसने हिन्दी-साहित्य के प्रति श्रद्धा की भावना जाग्रत नही की। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सम्मेलन तो भाषा के प्रचार में लगा हुआ था उस नाते साहित्य के प्रचार का दावा ही उसने कब किया था ? साहित्य-सृजन में या महत्त्वपूर्ण साहित्य सृजन में यदि त्रुटियाँ रह गयी हैं, तो उनका उत्तर-दायित्व हमारे समर्थ साहित्यकारो पर है, हिन्दी की उन साहित्यिक सस्थाओ पर है जो अभी तक अपनी सेवाओ की यथेष्ट कैफ़ियत देने में असमर्थ रही हैं।

आज की बदनाम 'हिन्दुस्तानी' को ठुकराकर सम्मेलन ने हिन्दी का दृढता ने समर्थन किया, उसकी इस नीति से भी डाक्टर रामविलास जी अधिक चिढे हुए जान पडते हैं।

हिन्दुस्तानी के समर्थन में डाक्टर साहब ने एक नयी और अनोखी सूझ ने काम लिया है, जो शायद आज तक किसी भी भाषाविद् या हिन्दु-स्तानी के कट्टर से कट्टर समर्थक के द्वारा भी नहीं दी गयी थी। वे कहते हैं, "हिन्दुस्तानी हिन्दी, उर्दू दोनो का ही आधार है।" स्पष्ट रूप से उनके इन कथन के दो ही अर्थ हो सकते हैं, एक तो यह कि हिन्दु-स्तानी मूल है हिन्दी और उर्दू उसकी दो शाखायें हैं। दूसरा यह कि विषाक्त साम्प्रदायिकता के इस युग में राष्ट्रवाणी की आवश्यकता की पूर्ति यदि हिन्दू-मुसलमानो को खुश रखकर किसी भाँति की जा सकती है, तो न हिन्दी कहकर न उर्दू कहकर, वरन् हिन्दुस्तानी के ढकोसले के द्वारा, दोनो को बहला कर। डाक्टर साहब का आशय यदि पहला है तो उसे तो भाषा-विज्ञान की नई खोज कहना पडेगा और, यदि दूसरा ठीक है तो, उसकी टीका-टिप्पणी बेकार है क्योकि प्रत्यक्ष रूप से यह आत्मवचना का एक घृणित उदाहरण है।

सयुक्त-प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) में बोली जाने वाली जन-साधारण की भाषा की ओर इगित करते हुए, अपनी हिन्दुस्तानी के समर्थन का, उसे आपने अपना आधार माना है। यदि किसी अहिन्दी प्रान्त का कोई लेखक ऐसी बात कह

देता तो उसकी उपेक्षा की जा सकती थी। क्या यह भी वताना होगा कि सयुक्त प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) की जनता अपने घरो में प्रति-दिन के व्यवहार में हिन्दी या हिन्दुस्तानी के साहित्यिक रूप का नही, वरन् हिन्दी की विविध वोलियो का यानी अवधी, वैंसवाडी और व्रज इत्यादि का व्यवहार करती है। यह साहित्यिक-हिन्दी, वोली के रूप में यदि कही व्यवहृत होती है तो विजनौर और मेरठ के पार्श्व में और अपने परिमार्जित रूप में, शिष्ट समाज में, शिष्टाचार के वातावरण में, न कि घरेलू वातावरण में, और उर्दू तो जनसाधारण के जीवन में कही आती भी नहीं। 'आदाव' और 'अलकाव' से लदी हुई यह भाषा यदि कही चलती है, तो केवल लखनऊ या प्रयाग के वनावटी शिष्ट समाज के 'ड्राइग रूमो' में या अपने विकृत रूपो में देहाती रईस और जमीदारो की वैठक में।

उर्दू की तथाकथित अस्सी या नव्वे प्रतिशत हिन्दी के साथ एकरूपता भी अपना एक रहस्य रखती है। जैसा सक्षेप में ऊपर कहा गया है कि वोलचाल के क्षेत्र में, शिष्ट समाज के दायरे में हिन्दी और उर्दू की धारायें प्राय एक साथ मिल-जुलकर वहती देख पडा करती हैं। और उनकी उपर्युक्त एकता की पुष्टि का आधार यही क्षेत्र है। जहाँ तक व्याकरण-विषयक ढाँचे का प्रश्न है, इसमें सन्देह नही कि दोनो के एक हैं। अस्सी या नव्वे प्रतिशत कौन कहे इस ओर दोनो की एकता शायद और भी अधिक देखी जा सकती है। न केवल वोलचाल में ही वरन् लिखने-पढने में भी। लेकिन विभिन्नता की जिस खाई से डाक्टर साहव घवराए से जान पडते हैं वह इतनी उथली नही कि भरी जा सके। हाँ उस पर पुल जरूर बनाया जा सकता है। इस विभिन्नता के दो पार्श्वों की ओर ध्यान आकृष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है, एक तो यह कि निर्विवाद रूप से उर्दू और हिन्दी साहित्यो की पृष्ठभूमि बिलकुल अलग-अलग है। एक की परम्परा का आधार यदि सस्कृत है, तो दूसरी का फारसी और थोडा-सा अरबी भी। जब तक ये कायम रहेंगे तब तक भिन्नता अवश्यम्भावी है। जव तक उर्दू का लेखक पीढियो से भारत में रहता हुआ भी फारस वुलवुल और गुल के तराने गाने की "नैत्री आदत" न छोडेगा तव तक भिन्नता अवश्यम्भावी है।

उर्दू की कुछ दूसरी जन्मजात विशेषताएँ भी समझनी पडेंगी। उर्दू की जन्म कहानी को न छेडकर भी, यह तो निश्चित रूप से कहा ही जा

सकता है कि इसका पालन पोपण मुगल दरवारो, वेगमो और नवावो की छत्रछाया में, और उनका अन्वाधुध अनुकरण करने वाले हिन्दू दरवारो में ही हुआ है। अपनी अग्रजा महा महिपी फारसी की दरवारी आदतें 'नैहरी सेहरे' के साथ ही इसे अमूल्य विरासत में मिली थीं या इसे लेनी ही पडी थी। रग, रूप और कलेवर में भारतीय होते हुए भी दरवारी सजावट के साथ वनी ठनी रहने की इसके जीवन की एक आवश्यक और अनिवार्य खसलत है। उसे न कभी यह छोड सकी, न छोडती है और न शायद छोड सकेगी। छोटी वहिन तो यह हिन्दी की है जरूर, लेकिन अपने-अपने जीवन-क्षेत्र के अनुसार दोनो की यह दो विभिन्न आदतें हैं। और पग-पग पर इनका अनुभव हममें से हर एक को हुआ ही करता है। तव विभिन्नता की ऊपरी खाई पाटने का स्वाव अपना क्या मूल्य रखता है ?

वावू हरिश्चन्द्र और मुशी प्रेमचन्द की भाषा की ओर इशारा किया गया है और विना किसी दलील या प्रमाण के यह मान लिया गया कि जैसे इनकी भाषा के प्रति उर्दू के सेवको की कोई शिकायत है ही नही या होई ही नही सकती। इस विषय में दो वातें कह देना शायद अनुपयुक्त न होगा, एक तो यह कि वावू हरिश्चन्द्र और मुन्शी प्रेमचन्द जी की लेखनी का दायरा था प्रधानत ललित-साहित्य का सृजन। किन्तु आज के हिन्दी साहित्यकार के सामने क्षेत्र इससे वहुत अधिक व्यापक है और इसीलिए भाषा-विषयक उसकी समस्या भी कम जटिल नही। दूसरे, यह भी स्मरण रखना होगा कि उर्दू-सेवी ससार का भारतेन्दु की लेखनी से कोई परिचय नही। किन्तु जहाँ तक प्रेमचद जी का प्रश्न है, उनकी हिन्दी भी उर्दू वालो को ग्राह्य नही थी। इसका प्रमाण यही है कि उन्हें उर्दूवालो के लिए अपनी प्रत्येक कहानी और अपनी प्रत्येक कृति उर्दू में अलग लिखनी पडी थी। इनकी शैली का उदाहरण कहाँ तक उपयुक्त है, इसका उत्तर डा० रामविलास ही दे सकते हैं।

"इनको ख़ुदा कहूं के ख़ुदा को ख़ुदा कहूं"

प्र० —समालोचना साहित्य की अभिवृद्धि में कहाँ तक सहायक

उत्तर —जब तक समालोचना का आदर्श और उसके उद्देश्य स्प समझ लिये जायें तब तक प्राय यह भ्रम रहता ही है कि समाल साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक हो भी सकती है, या नही। व समालोचना के नाम पर विशेषकर हमारे साहित्य में जो चीजें आती हैं उनमें नीरक्षीर विवेक की अपेक्षा रुचि-प्राधान्य ही अधिक पडता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि किसी कृति का किसी व्यि लिये किसी क्षण विशेष में रुचिकर अथवा अरुचिकर लगना कृति वे गुणो या दोषो पर आधारित न होकर, पाठक की अपनी निजी मान परिस्थिति पर अधिक अवलम्बित हुआ करता है। इसी के अनुसार कृतिविशेष को अच्छी या बुरी कह देता है। किन्तु इसे हम समालो नही कह सकते। रायज़नी एक वस्तु है और समालोचना कुछ दूस सच पूछा जाय तो समालोचक के कोष में 'अच्छा' या 'बुरा' शब्द ही नही। वह तो अपने विश्लेषण का निष्कर्ष 'सफलता' या 'असफ के शब्दो के द्वारा व्यक्त करता है। और यदि यह सिद्धान्त ठीक है समालोचना को साहित्य की अभिवृद्धि में केवल सहायक ही नही अनिवार्य मानना पडेगा।

प्र० —आप समालोचना के कौन से आदर्श स्वीकार करते हैं?

उत्तर —सच पूछिये तो समालोचना शब्द स्वय ही यह स्थिर कर है कि वहाँ शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक दृष्टि के सिद्धान्त को छोr अन्य किसी सिद्धान्त की गुजाइश ही नही। किन्तु यह होते हुए भी वि के अनुसार अवसर-अवसर पर समालोचक के दृष्टिकोण में परि आवश्यक है। यदि यह और अधिक स्पष्ट किया जाय तो यों क होगा, कि जिस प्रकार विविध धातुओ के मूल तत्वो की परख के मान

भिन्न हुआ करते है उसी प्रकार विविध साहित्यिक कृतियो की जाँच की कसौटियाँ भी भिन्न होती है। उपन्यास या निवन्ध काव्य की कसौटी पर नही परखे जा सकते। मानदण्ड भी सदा एक-से नही रहते और न रह ही सकते हैं, क्योकि साहित्यिक कृतियाँ समय और परिस्थितियो के प्रभाव में जन्म लेती हैं। और आलोचक को परम्परागत स्थिर सिद्धान्तो के साथ ही साथ परिवर्तन और परिस्थितियो का भी विचार रखना चाहिये। ऐसी अवस्था में किन्ही 'ध्रुव निश्चित' सिद्धान्तो का आवार समालोचना के क्षेत्र में ग्राह्य नही हो सकता।

प्र०—जब कि इसी युग में मनोविज्ञान का प्राधान्य है और आलोचना में कृति की वास्तविक उपयोगिता उसी मानदण्ड से आलोचक स्वीकार करता है, तब क्या आप यह नही मानते कि आज का आलोचक वर्ग-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण, किसी विशेष वर्ग का प्रोपेगण्डा साहित्य में चाहता है? मेरा आशय यह है कि जैसे आज के कुछ आलोचक सौन्दर्य के रसग्राही कृतित्व की अवहेलना करके शुद्ध मानवता के नाम पर लेखक से वर्ग-विशेष की विचारधारा की पुष्टि की अपेक्षा करते हैं?

उत्तर—प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और अत्यन्त सामयिक भी। इसका उत्तर समस्त वर्तमान साहित्य की नही वरन् आलोचनात्मक साहित्य की समीक्षा की अपेक्षा करता है। जो आलोचक किसी वर्गविशेष से घनिष्ठ रूप में सम्वद्ध है और कलाकार से अथवा लेखक से अपने वर्ग का समर्थन चाहता है, वह तो सच्चे अर्थों में आलोचक कहलाने का अधिकारी ही नहीं। 'शासक' या 'डिक्टेटर' यदि उसे कहा जाय तो अविक सार्थक होगा, क्योकि जैसा पहले कहा जा चुका है, आलोचक का मुख्य उद्देश्य होता है किसी कृति के गुण और दोषो का स्पष्ट विवेचन। वह जहाँ एक ओर पाठक-समुदाय को किसी कृति-विशेष के ठीक-ठीक समझने की दृष्टि का दान करता है, वही उसका लक्ष्य यह भी होता है कि वह लेखक की—वर्तमान के आधार पर—भविष्य में आनेवाली कृतियो का अधिक परिष्कृत एव सफल रूप देख सके। रही बात 'मनोवैज्ञानकि दृष्टिकोण' की, यह शब्द आज के युग में कुछ अधिक प्रचलित हो गया है। न केवल लेखक ही, वरन् आलोचक भी प्राय पग-पग पर इसकी आड लेते देखे जाते है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि मनोविज्ञान का क्षेत्र केवल 'व्यष्टि केन्द्रित' नही है वरन् 'समष्टि-व्याप्त' है। कलात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी हर कृति मनोवैज्ञानिकता का

"इनको ख़ुदा कहूं के ख़ुदा को ख़ुदा कहूं" !!

प्र०—समालोचना साहित्य की अभिवृद्धि में कहां तक सहायक है?

उत्तर—जब तक समालोचना का आदर्श और उसके उद्देश्य स्पष्ट न समझ लिये जायें तब तक प्राय यह भ्रम रहता ही है कि समालोचना साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक हो भी सकती है, या नही। क्योकि समालोचना के नाम पर विशेपकर हमारे साहित्य में जो चीजें सामन आती हैं उनमें नीरक्षीर विवेक की अपेक्षा रुचि-प्राधान्य ही अधिक देख पडता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि किसी कृति का किसी व्यक्ति के लिये किसी क्षण विशेष में रुचिकर अथवा अरुचिकर लगना कृति के मूल गुणो या दोषो पर आधारित न होकर, पाठक की अपनी निजी मानसिक परिस्थिति पर अधिक अवलम्बित हुआ करता है। इसी के अनुसार वह कृतिविशेष को अच्छी या बुरी कह देता है। किन्तु इसे हम समालोचना नही कह सकते। रायजनी एक वस्तु है और समालोचना कुछ दूसरी। सच पूछा जाय तो समालोचक के कोष में 'अच्छा' या 'बुरा' शब्द होता ही नही। वह तो अपने विश्लेषण का निष्कर्ष 'सफलता' या 'असफलता' के शब्दो के द्वारा व्यक्त करता है। और यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो समालोचना को साहित्य की अभिवृद्धि में केवल सहायक ही नही वरन् अनिवार्य मानना पडेगा।

प्र०—आप समालोचना के कौन से आदर्श स्वीकार करते है?

उत्तर—सच पूछिये तो समालोचना शब्द स्वय ही यह स्थिर कर देता है कि वहां शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक दृष्टि के सिद्धान्त को छोडकर अन्य किसी सिद्धान्त की गुजाइश ही नही। किन्तु यह होते हुए भी विषयो के अनुसार अवसर-अवसर पर समालोचक के दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक है। यदि यह और अधिक स्पष्ट किया जाय तो यो कहना होगा, कि जिस प्रकार विविध धातुओ के मूल तत्वो की परख के मान-दड

भिन्न हुआ करते हैं उसी प्रकार विविध साहित्यिक कृतियो की जांच की कसौटियां भी भिन्न होती है। उपन्यास या निवन्ध काव्य की कसौटी पर नही परखे जा सकते। मानदण्ड भी सदा एक-से नही रहते और न रह ही सकते है, क्योंकि साहित्यिक कृतियाँ समय और परिस्थितियो के प्रभाव में जन्म लेती है। और आलोचक को परम्परागत स्थिर सिद्धान्तो के साथ ही साथ परिवर्तन और परिस्थितियो का भी विचार रखना चाहिये। ऐसी अवस्था में किन्ही 'ध्रुव निश्चित' सिद्धान्तो का आधार समालोचना के क्षेत्र में ग्राह्य नही हो सकता।

प्र०—जब कि इसी युग में मनोविज्ञान का प्राधान्य है और आलोचना में कृति की वास्तविक उपयोगिता उसी मानदण्ड से आलोचक स्वीकार करता है, तब क्या आप यह नही मानते कि आज का आलोचक वर्ग-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण, किसी विशेष वर्ग का प्रोपेगण्डा साहित्य में चाहता है? मेरा आशय यह है कि जैसे आज के कुछ आलोचक सौन्दर्य के रसग्राही कृतित्व की अवहेलना करके शुद्ध मानवता के नाम पर लेखक से वर्ग-विशेष की विचारधारा की पुष्टि की अपेक्षा करते है?

उत्तर—प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और अत्यन्त सामयिक भी। इसका उत्तर समस्त वर्तमान साहित्य की नही वरन् आलोचनात्मक साहित्य की समीक्षा की अपेक्षा करता है। जो आलोचक किसी वर्गविशेष से घनिष्ठ रूप में सम्वद्ध है और कलाकार से अथवा लेखक से अपने वर्ग का समर्थन चाहता है, वह तो सच्चे अर्थों में आलोचक कहलाने का अधिकारी ही नही। 'शासक' या 'डिक्टेटर' यदि उसे कहा जाय तो अधिक सार्थक होगा, क्योकि जैसा पहले कहा जा चुका है, आलोचक का मुख्य उद्देश्य होता है किसी कृति के गुण और दोपो का स्पष्ट विवेचन। वह जहाँ एक ओर पाठक-समुदाय को किसी कृति-विशेष के ठीक-ठीक समझने की दृष्टि का दान करता है, वही उसका लक्ष्य यह भी होता है कि वह लेखक की—वर्तमान के आधार पर—भविष्य में आनेवाली कृतियो का अधिक परिष्कृत एव सफल रूप देख सके। रही वात 'मनोवैज्ञानकि दृष्टिकोण' की, यह शब्द आज के युग में कुछ अधिक प्रचलित हो गया है। न केवल लेखक ही, वरन् आलोचक भी प्राय पग-पग पर इसकी आड लेते देखे जाते हैं। किन्तु वे भूल जाते है कि मनोविज्ञान का क्षेत्र केवल 'व्यष्टि केन्द्रित' नही है वरन् 'समष्टि-व्याप्त' है। कलात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी हर कृति मनोवैज्ञानिकता का

दावा नही कर सकती। विशेपकर जो साहित्य वर्ग-विशेष के दृष्टिकोण के समर्थन अथवा विरोध से सम्बद्ध हो, उसमें मनोवैज्ञानिक स्थिति-चित्रण की अपेक्षा मानसिक स्थिति-परिवर्तन की चेप्टा अधिक होती है। इसीलिये यह कहना पडेगा कि उपर्युक्त कोटि के व्यक्ति को हम विशुद्ध अर्थों में समालोचक नही कह सकते।

प्रश्न—रसवादी समालोचना के सम्वन्ध में आपका क्या मत है? क्या आज के युग में उस प्रकार के साहित्य की कोई उपयोगिता है। यदि है तो कहाँ तक? और साहित्यकार को उसका कौन-सा रूप ग्रहण करना चाहिये? मानवतावादी या केवल शुद्ध रसवादी।

उत्तर—रस तो केवल काव्य का ही नही वरन् कला का ही प्राण है। अत रसवादी समालोचना का क्षेत्र अनायास ही कलात्मक साहित्य से सीधा जुडा हुआ है। यदि कोई कृति कलात्मकता का दावा करती है तो रस की साधना ही उसका निमित्त हो सकता है। ऐसी दशा में आलोचक यदि रस की स्थिरता की परख करना चाहता है और उसकी सिद्धि या सफलता की जाँच करता है, तो यह उचित ही है। रस केवल भावुक कवि या कलाकार की कल्पना की ही उपज नही, वह तो अपनी व्यापकता में मानव-जीवन की समग्रता का प्रतीक है। आपके प्रश्न में 'रस-वादिता' और 'मानवता' कुछ भिन्न-सी जान पडती हैं। किन्तु ऐसा तो नही है। रस को छोडकर 'मानवता' रहेगी ही कहाँ? और मानवता के आधार को यदि छोड दिया जाय तो रस का अस्तित्त्व कहाँ? लेकिन मैं समझ रहा हूँ कि आज के युग में 'मानवता' शब्द का प्रयोग कुछ विकृत अर्थों में हो रहा है। कदाचित् इसका कारण यह भी हो सकता है कि 'मानवता' की मूल सत्ता परिस्थितिवश दब-सी गई है और केवल उसका सामाजिक रूप आवश्यकता से अधिक प्राधान्य प्राप्त कर वैठा है। मन और आत्मा की अपेक्षा शारीरिक आवश्यकताएँ और हीनताएँ हमें अधिक व्याकुल किए हुए हैं और हमने केवल 'शरीरी' मानव की सामाजिक परिस्थिति पर ही ध्यान इतना केन्द्रित कर दिया है, कि उसके मन और उसकी आत्मा से प्रादुर्भूत उदात्त मानवोचित गुणो के मूल्य को आज हम आँक ही नही पाते। हो सकता है इन्ही कारणो से उत्कृष्ट कोटि का काव्य भी आज के जीवन के निर्माण में अधिक सहायक सिद्ध

नही होता। किन्तु यह काव्य का दोप नही और न सच्चे कलाकार का ही। यह हमारी विकृत दृष्टि का फल हो तो भले ही हो।

प्रश्न—आपने अभी कहा कि आलोचक का मुख्य उद्देश्य है कृति के गुण-दोषो का विवेचन। किन्तु जिसको एक आलोचक गुण मानता है, दूसरा उसे अवगुण। तव साहित्य में गुण और अवगुण की परिभापा क्या होगी।

उत्तर—यह प्रश्न भी कम रोचक नही। गुण और अवगुण ये दो पृथक् वस्तुएँ नही। 'स्थिति' और 'अनस्थिति' के दो रूप हैं। केवल साहित्य में ही नही वरन् जीवन में भी 'गुण' और 'अवगुण' की सज्ञा का हम प्रयोग किया करते है। इनकी परिभापा कदाचित् यहाँ अभीष्ट नही। यदि इनकी परख की कसौटी दे दी जाय तो इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का हल अधिक स्पष्ट होगा। गुण कभी दोप नही हो सकता और न दोप ही कभी गुण हो सकता है। इनका निर्णय हुआ करता है—लेखक के आदर्श और उद्देश्य के अनुसार, और साथ ही साथ कलाकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य के जिस रूप को स्वीकार करता है, उसके उस रूप के सृष्ट सौष्ठव पर भी। अर्थात् जहाँ एक ओर हम गुण और दोपो का निर्धारण उसके उद्देश्य और आदर्श के निमित्त के सहारे कर सकते हैं, वही यह भी देखना होगा कि अभिव्यक्ति के माध्यम के स्वरूप में वह कितना निखरा और उसमें कला का कितना सन्निवेश हुआ।

'आके बैठे भी न थे और निकाले भी गए'

सुधारो के इस युग में आए दिन हिन्दी-साहित्य के विविध अग भी कसौटी पर कसे जाते हैं, और देखने की चेष्टा की जाती है कि वहाँ सुधारो की कितनी गुजायश हो सकती है। ऐसे प्रयासो के पीछे यदि सात्विक भावना की प्रेरणा हो तो उन्हें स्तुत्य ही कहना पडेगा। लेकिन कितने प्रयास सच्ची लगन को लेकर किए जाते हैं, यह एक प्रश्न है। किसी की नीयत पर बिना कारण सन्देह करना अनुचित अवश्य हो सकता है, परन्तु यथार्थ कारणो के होते हुए ऐसा सोचना अनुचित नही है। क्योकि किसी की अनधिकार चेष्टा का विरोध करना भी आवश्यक कर्त्तव्य है।

यद्यपि इस छोटे से लेख में सम्भव नही कि हिन्दी के विविध काल विभागो की विस्तृत व्याख्या की जाय, तथापि साहित्य का प्राय प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि हिन्दी साहित्य का मध्ययुग सवत् १४०० से लेकर १८०० तक माना जाता है। ४०० वर्ष के उस महान् युग में जिसमें पग-पग पर विद्यापति की सरस काव्यमयी भावना मानव-हृदय को प्रेम और भक्ति की तरगो से परिप्लावित कर रही हो, जिसमें सूरदास जैसे महान् द्रष्टा ने अपने नयनो की ज्योति देकर भारतीय साहित्य-गगन में एक अखड ज्योतिर्मय अर्क की स्थापना कर दी हो, जिसमें तुलसीदास जैसे महात्मा की पावन वाणी पवित्रता और सद्भावना की अमर सुरसरि प्रवाहित कर रही हो, उस युग के साहित्य की परख करना साधारण कार्य नही। यही नही, वरन् जिस महान युग में नन्ददास और कृष्णदास जैसे काव्यशैली के परिष्कृत निर्माता हो सकते हो, जिनकी सरस तथा सगीतमयी शब्द-व्यजना आज भी हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म तारो को झकृत कर देने में समर्थ हो, जिस युग के रहीम के भाव-भरे बरवै तथा अनुभव-पूर्ण दोहे, इस समय के ज्ञान और अनुभव का दभ करनेवाले नवयुवको को

सन्मार्ग दिखाने में आज भी समर्थ हो तथा जिस महान् काल में रसखान, गग, भूपण, देव, विहारी तथा हितहरिवश जैसे भारती के वरद पुत्रो ने अपनी रचनाएँ की हो, उस युग की परख, (वीणा सितम्वर १६३५ पृ० ८६१) "रूप सनातन को मुमलमान" वतानेवाले अन्वेपक (Researcher) अथवा (वीणा सितम्वर १६३५ पृ० ८६३) "कर्मवीर से सेजवीर वनने पर ही राधाकृष्ण सम्प्रदाय का जन्म और उसके द्वारा काम-वासना का प्रचार सम्भव" करानेवाले स्वनामधन्य साहित्य-पारखियो तथा इतिहासवेत्ताओ की पहुँच के वाहर की वात है।

साहित्य का आसन ऊँचा आसन है। साहित्य का अनुशीलन तथा उसकी परख भी इतनी सरल नही। जिस प्रकार ससार के अन्य आवश्यक ज्ञान-क्षेत्र विविध योग्यताओ की उपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार, हिन्दी साहित्य का अध्ययन भी अध्ययन करने वाले में कुछ विशेप योग्यताओ की अपेक्षा अवश्य करता है। ससार के किसी भी वृहत् साहित्यकी धारा सदा एक रूप में नही वहती। उसका रूप निरतर परिवर्तित होता रहता है। अतएव हिन्दी साहित्य के १००० वर्षो के लम्वे इतिहास में भी उसकी धारा सदा एक-सी नही रह सकती थी, उसमें परिवर्तन होना नैसर्गिक था। इस विस्तृत साहित्य के निर्माण करनेवाले विशाल जन-समूह की मनोवृत्ति में कितने परिवर्तन हुए होगे इसका उल्लेख किसी प्रकार सभव नही हो सकता। परन्तु निरतर परिवर्तित होनेवाली उस प्रवृत्ति का अधिक से अधिक प्रतिविम्व जितना साहित्य में मिल सकता है उतना अन्यत्र नही। मानवता के इतिहास का कोई सच्चा विद्यार्थी यदि इसी नाते साहित्य का अध्ययन करने चले और अपने अध्ययन के लिए हिन्दी का मध्ययुग चुन ले, तो निराशा का तो प्रश्न ही क्या, उसे आशातीत सफलता मिलेगी। ऊँचा से ऊँचा आदर्शवाद (रामचरितमानस), खरा से खरा कर्मवाद और अनुभववाद (वृन्द, रहीम, गिरधर इत्यादि), कठिन से कठिन धार्मिक तन्मयता (अष्टछाप की गोपियाँ) और कोमल से कोमल मानव-प्रेम के विविध रूप तथा कठोर से कठोर जीवन की यत्रणाएँ इसी एक युग के साहित्य में मिल जायँगी।

क्या किसी भी साहित्य ने आज तक तुलसी की सीता से वढकर आदर्श पत्नी, तुलसी के राम से वढकर आज्ञाकारी पुत्र और तुलसी के भरत से वढकर स्वार्थ-त्यागी भाई उत्पन्न किया है? क्या किसी भी

साहित्य में सूर और नन्ददास की गोपियो से बढकर सच्ची तन्मयता के दर्शन होते हैं ? क्या कही भी उद्धव के योगवाद की वकालत या उनकी सी दार्शनिक पराजय का चित्र देखने को मिलता है ? "ब्रह्म और पुराणो" के गानो में" तथा वेद की ऋचाओ में भी जो ढूंढे नही मिलता, वही 'कुज कुटीर में राधिका के पास' मिलता है, या 'सेस महेस गनेस दिनेस सुरेस' इत्यादि द्वारा जो 'निरन्तर गेय हो, वही अहीर की छोकरियो की छछिया भर छाँछ पै नाचता है, तन्मयता से पूर्ण भक्त-हृदय की यह कोमल भावना किस साहित्य की अमर निधि न कहलाएगी ? सासारिक जीवन म विपत्नित्व-भाव की कटुता मर्मभेदी अनुभव है, परन्तु त्यागमय, वासना से रहित पति-प्रेम और पतिपरायणता की उच्च भावना उस कटुता में भी कितनी सात्विक सरसता भर देती है, जिससे प्रवाहित होकर हिन्दी की मध्यकालीन कविता कहने लगती है—

"मोहिं भोग सो काज न वारी,
सौंह दीठि कै चाहनहारी।
(जायसी)

अथवा—

भूलिहूँ कढै जो कटु बोल तौ कढाऊँ जीभि
छार डारौ आखिन की आँसू झलकनि पै।
कौन कहै कैसी सौति सो तौ ठकुरायनि, लिखी
है ब्रजबालनि के भाल फलकनि पै।
ह्वै रहौं नजीकी पै न जीकी दुचिताई गहौं
पी की प्राणप्यारी लहौं नीकी ललकनि पै।
दूजो नहिं देव, देव पूजौ राधिका के पद,
पलक न लाऊँ धरि लाऊँ पलकनि पै

(देवसुधा पृ० २१)

ऐसे मार्मिक स्थलो में भी निजोत्सर्ग की पावन उदारता भरकर उन्हें सुन्दर एव सुखमय वनाना हिन्दी के मध्यकालीन कला-कुशल कवियो का ही काम था। सम्भव है (वीणा सितम्बर १९३५ पृ० ८६५) 'साहित्य की पैदाइश पर-स्त्री की चाह से और मौत विरह से देखनेवालो' को मध्यकालीन साहित्य की ये उपर्युक्त उच्चतम विभूतियाँ 'अजा-कूष्माण्ड-न्याय' के अनुसार ऊँची अथवा सराहनीय

न जँचें, क्योंकि आजकल की स्वार्थान्धता के कलुषित वातावरण में पले बच्चे की समझ में भरत के स्वार्थत्याग का मूल्य ही क्या? वह तो इतने बड़े साम्राज्य के त्याग का मूल्य शायद मूर्खता से अधिक न आँक सकेगा। परन्तु उसे क्या मालूम कि कविकुल-चूड़ामणि तुलसीदास ने आदर्श भाई, आदर्श पत्नी, आदर्श पुत्र की स्थापना किसी आधुनिक स्वार्थी युवक के लिए अथवा एकमात्र कांचन-सभ्यता की उपासिका किसी आधुनिक चिरकुमारी के लिए नहीं की थी। वह आदर्श तो मनुष्य जीवन के लिए है, जो काल और परिस्थितियों की सीमा के बाहर, अनादि तथा अनन्त रूप से विद्यमान रहता है। केवल सूर या तुलसी के ही आदर्श नहीं वरन् विश्व के सभी सत्य और आदर्श केवल इसी एक सन्देश को लेकर उत्पन्न होते हैं तथा इसी की एक मात्र साधना में तल्लीन रहते हैं।

किसी भी साहित्य का अध्ययन केवल उसके शब्दार्थज्ञान के साथ ही नहीं प्रारम्भ होता और न समाप्त ही होता है। वास्तविक अध्ययन तो इसके बहुत बाद उसकी अन्तर्निहित भावना में प्रविष्ट होने के साथ प्रारम्भ होता है, क्योंकि आन्तरिक भावना ही साहित्य की आत्मा है। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व उसके शरीर तक ही सीमित नहीं वरन् शारीरिक परिधि के बाहर आरम्भ होता है, उसी प्रकार किसी साहित्य का वास्तविक रूप देखने के लिए उसके विद्यार्थी को उसके भीतर बहुत दूर तक पैठना पड़ता है।

हिन्दी के मध्ययुग का धार्मिक साहित्य जिसका निर्माण परम भक्तों तथा चिरस्मरणीय महात्माओं की पावन साधनाओं के साथ हुआ हो, जिसमें अध्यात्मवाद की चिरगुम्फित जटिल समस्याएँ तपस्या तथा लगन के द्वारा सुलझायी गयी हों, जिसमें जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ पग-पग पर जगमगा रही हों, उसे पढ़ने और समझने के लिए, उसका आदर और उसकी पूजा करने के लिए भी पाठक में एक विशेष अनुभूति, आत्म-पवित्रता और अनुशासित भावना अपेक्षित है। किसी महात्मा को परखना या उसकी उच्चता को देख लेना या तो किसी महात्मा के लिए सम्भव है या फिर एक सरल-हृदय ज्ञान-पिपासु भक्त के लिए। इसी प्रकार किसी स्थल पर अनुभूति की वास्तविक व्यंजना हुई है या नहीं इसकी परख भी वही कर सकता है जिसका जीवन अनुभूतियों का खजाना है, न कि कोई अनुभव-शून्य मियाँमिट्ठू।

इसमें सन्देह नही कि प्रत्येक कवि अथवा साहित्यकार अपने समाज की उपज है परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मध्य युग के चार सौ वर्ष के लम्बे-चौडे समय में केवल एक ही प्रकार की परिस्थिति या मनोवृत्ति की कल्पना कर बैठना और उसके आधार पर यह प्रतिपादित करने की चेष्टा करना कि उस समय के समस्त साहित्यकारो की मनोवृत्ति एक-सी ही कलुषित थी भ्रमात्मक अन्याय है। ऐसी निर्मूल कल्पना उस युग के सम्बन्ध में कर बैठना जो अपने अनवरत परिवर्तनो के लिए विख्यात हो, एक अक्षम्य अपराध से कम नही है। समय और परिस्थिति से जो इतना अनभिज्ञ हो कि १५वीं और १६वी शताब्दी के वैष्णव भक्तो की परम पवित्र वाग्धारा और उनके उच्चतम चरित्रबल से रजित वातावरण में कलुष की छाया देखता हो अथवा जो उन तपस्वियो के पुण्य-मन्दिरो (वीणा सितम्बर १९३५ पृ० ८६१) में "दर्बारो की विलासिता के सारे साजो-सामान धर्म के द्वारा दिलाते देखता हो" वह तो केवल अपनी अक्षम्य अनभिज्ञता तथा अपनी ही कलुषित और निंद्य मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब जगह-जगह पर देखता है। जिस प्रकार पाडु रोग का रोगी प्रत्येक वस्तु को पीला देखता है, उसी प्रकार सद्भावना और सद्वृत्ति से कोसो दूर रहनेवाला व्यक्ति इस प्रकार के कुविचार रखकर केवल अपनी ही हीनता का परिचय देता है। साहित्य की परख का दावा करनेवाले साहित्य के ऐसे शुभचिन्तक यदि किसी कवि विशेष अथवा किसी रचना-विशेष को लेकर अपने आक्षेप प्रस्तुत करते, तब तो बात विचारणीय अवश्य हो जाती, परन्तु जो उच्छृङ्खलतावश 'मध्यकालीन कवियो (वीणा, सितम्बर १९३५—पृ० ८६१) को रतिक्रीडा के अतिरिक्त शायद ही किसी बात को अपनाते देखता हो' (भूषण ग्रथावली पृ० ३४-८७) या 'तेरे ही भुजन पर भूतल को भार' (भूषण ग्र० पृ० १२६,३२०) और 'औरग जो (भूषण ग्र० पृ० १६८-७१) चढि दक्खिन को आवे, तो ह्याँ ते सिधावै सोऊ बिन कप्पर' या 'गरुड को दावा सदा नाग के समूह पर' कहनेवाले 'भूषण' और 'लाल के वीर रस में केवल 'मुसलमान नारियो के खुले अग देखता हो' (वीणा, सितम्बर १९३५—पृ० ८६१), या जो इस प्रसिद्ध और चिर वन्द्य काल के सभी कवियो, में 'गुडेपन और शोहदेपन की हरकतो के अतिरिक्त और कुछ न देखता हो' (वीणा वही), जो यह कहने का दुस्साहस करता हो कि 'समस्त मध्यकालीन हिन्दी साहित्य' में 'एक भी

कवि ऐसा नहीं जिसे इन बातों से जरा भी फुरसत हो' (वीणा वही) उनका ज्ञान दयनीय है, उसकी धृष्ठता दडनीय है, तथा उसकी कुत्सित मनोवृत्ति नितान्त निन्दनीय है।

छन्द और अलकार-शास्त्र के परम पडित और उद्भट विद्वान केशव तथा व्रजभाषा के सुललित लेखक मतिराम अथवा देव में जिसने केवल वासना ही देखी तथा जो इस मध्यकालीन युग को अमर बनानेवाले अगणित भक्तो, जिनकी वाणी की पवित्रता आज भी ससार का कलुष धोकर उसे अपनी नैसर्गिक पवित्रता से पुनीत बना कर न जाने कितने भले-भटकों को सन्मार्ग पर ला रही है, को इस प्रकार लाछित कर सकता हो, ऐसा ड्रेन इसपेक्टर (Drain Inspector) मिस मेयो का अनुयायी, अपनी कैफियत इससे अधिक क्या देगा कि (वीणा—वही) 'उसे या उस तरह के लोगो को ईमानदारी से सदा परहेज रहा है।' यह कोई नई बात नही है। परन्तु इस कैफियत को देखकर भी प्रश्न उठता है कि आखिर इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण क्या हो सकता है? ऐसे सपूतों में साहित्य के पढने और उनके सात्विक अनुशीलन की क्षमता का अभाव एक बड़ा कारण है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी एक बात और उपस्थित होती है, जिसकी ओर ध्यान देना भी आवश्यक हो जाता है। ऐसे व्यक्तियो को यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक स्थान के लिए उपयुक्त नहीं हुआ करती और न प्रत्येक व्यक्ति ही प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त हो सकता है। साहित्य मानव-भावनाओ तथा अनुभूतियो का आधार है और है कला की चिर-साधना। अत, उसका मनन और परिशीलन हृदय की सरसता, अनुभूतियों की व्यापकता और मन की शुद्धता तथा कोमलता पर निर्भर रहता है। जिनमें इन गुणो का अभाव किसी अंश में भी होता है, वे साहित्य के अध्ययन के लिए सर्वथा अयोग्य होते हैं। उन्हें इस ओर आने का अधिकार ही नहीं क्योंकि उनको इसमें मिलेगा ही क्या? ससार के सभी पदार्थ सब के लिए नही बने हैं। मनुष्य को अपने अनुरूप ही कार्य चुनना चाहिए, अन्यथा अनधिकार चेष्टा उसे केवल उपहासास्पद ही बनाती है।

'मन 'इनका' पुराना पापी है बरसों में नमाज़ी हो न सका'

भारत पर एक हजार वर्ष तक गुलामी का कोढ छाया रहा। गुलामी को सबसे बडा अभिशाप माना गया केवल इसलिए नही कि उससे शारीरिक सुखो में बाधा पडा करती है, वरन् इसलिए कि गुलाम कभी किसी प्रकार की प्रतिष्ठा का या अपने आत्म-सम्मान का दावा नही कर सकता। उसकी अपनी निजी उत्साहहीनता ही प्राय उसकी गुलामी का कारण हुआ करती है। गुलाम का स्वामी इस राज को जानता है। अपनी सत्ता कायम रखने के लिए वह उन चेष्टाओ में रत रहता है कि उसके गुलामकी हीनताएँ मिटने न पावें। साथ ही उस की विविध हीनताओ का ढिढोरा पीटना भी उसका एक कौशल होता है। गजनवी, गोरी, तुरुक, पठान, अग्रेज सभी भारतवर्ष के अधिपति अपने-अपने काल में बने रहे। ज़ोर-ज़बर्दस्ती, छल प्रवचना का ऐसा कोई ज्ञात कौशल नही जो उन्होंने अपने-अपने समय में, अपनी-अपनी शक्ति भर न बरता हो। पहले के आनेवालो ने यदि नर-सहार के साथ यहाँ की ज्ञान-राशि के सहार को अपनी बर्बरता का निशाना बनाया था तो बाद के आनेवाले गोरी चमडीवाले सभ्यता के नाम पर अपना अटल शोषण-निष्ट साम्राज्य स्थापित करनेवाले 'कत्ले-आम' में और 'ज्ञान-ध्वस में रुचि न रखते हुए भी यहाँ के ज्ञान-भडार के वृहद् और अमूल्य कोषो में डकैतियाँ डालने के शौकीन तो थे ही। लूट-झपट में कोई कोर कसर न रखी गई। किन्तु फिर भी जब ज्ञान का भडार इनके रिक्त किए न हुआ तब मिथ्या प्रचार और असत्य-प्रकाशन के द्वारा भारतीय ज्ञान की विशुद्धता को पग-पग पर कलकित, अपमानित और उच्छिष्ट करार देने के कौशलो से काम लेना इन्होंने प्रारम्भ किया। यह कार्यक्रम भी युगो चलता रहा। लेकिन इतनी

मारी नृशंसता के वाद भी क्या उन्हें वाञ्छित सफलता मिली ? विदेशी शासन की गुलामी की मोटी-मोटी कुछ जग खायी हुई और कुछ नयी वेडियाँ पहने हुए भी यह वृद्ध भारत विविध प्रकार से ज्ञान गुरु के रूप में ससार में पुजता ही रहा। गुलामो के भी पूजनीय होने का ऐसा उदाहरण समार में शायद ही कही अन्यत्र होगा।

प्रश्न उठता है कि आखिर इसका राज क्या था ? यो तो समस्या जटिल जान पडती है, किन्तु यदि जरा गहराई में पैठकर विचार किया जाय तो वात स्पष्ट है। ज्ञान का व्यक्त रूप साहित्य के माध्यम से ही सामने आता है, और सुलभ हुआ करता है। महान् साहित्य यदि अपने विशेषण 'महान्' की कुछ भी सार्थकता रखता है, तो गाम्भीर्य, गुरुता, चिर सत्य और अमरता उसमें होनी ही चाहिए। इन गुणो का सन्निवेश साहित्य स्रष्टाओ की शुद्ध दृष्टि और उनकी आन्तरिक पवित्रता पर ही अवलम्वित हुआ करता है। वह अमर भारतीय साहित्य, जो गुलामी के कुसमय में भी काम आया था, निस्सन्देह ही उपर्युक्त गुणो से युक्त था और उसके रचयिता भी अपेक्षित, पवित्र सकल्पवाले ही थे। उनका सकल्प ही केवल पवित्र नही था, वरन् उनकी पैनी दृष्टि जीवन और विश्व के रहस्यो में किस गहराई तक पैठ चुकी थी, इसका पता प्राचीन भारतीय साहित्य की अपार विविवता पर दृष्टि डालने से ही लग सकता है। यह भी सत्य है कि जीवन की मूल अनुभूतियाँ और मानवता के मूल आवार केवल विश्वव्यापी ही नही होते वरन् चिर सत्य और चिरतन भी होते हैं। इस मान्यता के वावजूद भी महान् साहित्य इनसे युक्त होता हुआ भी युग-युगान्तरो की चिरनवीनता लिए हुए ही उपस्थित होता है। यह चिर नव-यौवन उन मूलभूत तत्त्वो को नित्य परिवर्तनशील परिस्थितियो में रखकर प्रस्तुत करने से ही उत्पन्न हो जाता है।

आज का हमारा ससार अनेक रूपो में समुन्नत और प्रगतिशील होने का दावा करता है। नैसर्गिक और कृत्रिम सावन आज जितने उपलब्ध हैं, उनपर हमें नाज़ भी कम नही। इनसे युक्त हुआ आज का हमारा साहित्यिक हमें क्या दे रहा है, इसकी सक्षिप्त समीक्षा आज विशेष रूप से अपेक्षित है। क्रान्ति और उलट-फेर के नारे, चुनौतियो पर चुनौतियाँ, ध्वस और विध्वस की कर्ण कटु आवाजें कान में कोने-कोने से गूँजती

हैं, लेकिन निर्माण और सुव्यवस्था की सास शायद ही कभी सुन पडती हो। केवल इतना ही नही, उपर्युक्त 'क्रान्ति' और 'ध्वस' के नारे जहाँ इतने अधिक सुन पडते हो वही, यदि देखने का प्रयास किया जाय, कि क्रान्ति ही कितनी हुई या ध्वस ही किसका और किस अश में हुआ, तो उधर भी जो कुछ दीख पडता है वह कुछ नही-सा है। तब तो शायद यह कहना पडेगा कि बन्दूको और तोपो की यह भीषण आवाज़ें शायद सलामी या पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर दगाई जानेवाली झूठी 'बाढो' से अधिक कुछ नही। आखिर यह क्यो ? यदि इसका उत्तर ईमानदारी से दिया जाय तो कहने में सकोच नही होना चाहिए कि इन भयकर नारो से ओतप्रोत आज का हमारा साहित्य जिनके द्वारा दिया जा रहा है—वे 'ध्वस',-'ध्वस', चिल्लाते हुए भी विध्वसक तेज से बिल्कुल हीन हैं। दिल में अग्नि की ज्वाला नहीं, असयमित आकाक्षाओ का उफान है, दिमाग में कल्पना नही, कुविचारो का ज्वार है। तब उस सत्य सकल्प के लिए स्थान ही कहाँ, जो परिणाम स्वरूप कुछ कर गुज़रने में सफल हुआ करता है। आज के क्या काव्य-साहित्य, क्या कथा-साहित्य और क्या अखबारी साहित्य को ही उठाकर यदि देखा जाय तो 'पूँजीवाद,' 'पूँजीपति', 'शोषण', 'शोषित' इत्यादि के प्रति जी भरकर कर्कश अभिशाप ज़रूर उगले जाते हैं। पढकर कुछ क्षणों के लिए ऐसा जान पडता है कि इस समय एक नही, अनेक दुर्वासाओ की सृष्टि अनायास हो गई है। किन्तु, प्राचीन समय का जहाँ एक दुर्वासा इन्द्रासन को डिगा देने में समर्थ था, वही आज के ये अगणित 'दुर्वासा' इन्द्र की कौन कहे, महीपतियो की भी कौन कहे, साधारण धन्नासेठ के आसन को भी टस से मस करने में समर्थ नही होते। इनकी दृष्टि में आज वह ज्वाला कहाँ जो पाप या दम्भ का क्षार कर सके। इसका राज़ बहुत गुप्त भी नही। बात केवल इतनी ही है कि वह दुर्वासा-इन्द्र के सिंहासन को डिगानेवाला इन्द्रासन पर बैठने का इच्छुक नही था, वह दुर्वासा इन्द्र की कृपा दृष्टि का भिक्षुक नही था, वह दुर्वासा मेनका और उर्वशी के कटाक्षो का शिकार नही था। इसी के विपरीत यदि आचरण में आज के दुर्वासाओ की ओर देखा जाय, तो चित्र कुछ और ही सामने आएगा। हमारे कवि और कलाकार अपनी एकरूपता को खोकर कुछ बहुरूपिये-से बन गये हैं। दिमाग कुछ सोचता है, निगाहे कुछ देखती है, जिह्वा कुछ और कह बैठती

है, मन न जाने कहाँ हवा खाता है, उमगें मनमानी चौकडी भरती हैं। निष्कर्ष यह है कि नितान्त एकाग्रता, जो शक्ति और सिद्धि की कुजी है, वह लापता है।

कुछ दिन पहले कदाचित् इसी परिस्थिति को लक्ष्य करके इसी युग के साहित्य क्षेत्र के द्रोणाचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक कल्पना चित्र खीचा था—'कवि किराये पर'। उस समय पाठको ने इसे एक काल्पनिक व्यग-चित्र ही समझा था, किन्तु देखते न देखते कुछ वर्षों में ही वह कल्पना-चित्र आज सार्थक हो उठा है। कलमें बिकी रखी है, वुद्धि नीलाम पर चढ चुकी है और साहित्यिक-क्रातिकारिणी-शक्ति पूँजी के हाथ गिरवी हो चुकी है। यदि इस कटु सत्य को कोई तौलना ही चाहे, तो दूर न जाना होगा।

कलकत्ते का वाज़ार आधुनिक भारत में हर पहलू से वडा माना जाता है—क्योकि भारत की प्रत्येक कीमती और गैरकीमती चीज का वाज़ार दर, क्या थोक और क्या फुटकर, यही स्थिर हुआ करता है। हीरे और जवाहरात से लेकर चीथडो तक का व्यवसाय विनिमय वडे पैमानो पर यही के वाज़ारो में होता है। गनीमत थी—कुछ काल पहले तक देश की साहित्यिक प्रतिभा इस वाज़ार में परख के लिए चाहे आयी हो, किन्तु विकने नही आयी थी। लेकिन पिछले कुछ दिनो से यह भी यहाँ के वाज़ारो में दर-दर विकती और अपनी अजस्र अमूल्यता को खोकर टुकडो के मोल विकती दीख पडने लगी है। व्यक्तिगत उपहास या लाछना इस लेख का अभिप्राय नही, किन्तु राज़ किसी से छिपा नही कि आज के हमारे साहित्य के कवि और कलाकार, जिनकी पैनी लेखनी पूँजीपति और शोपको को कोसती थकती नज़र नही आती, वही यहाँ के वाज़ार में यही के 'पूँजीपतियो' की गद्दियो पर उन्ही के इशारो और टुकडो पर थिरकते देखे गये। कलकत्ते का वडा वाज़ार हर तरह से वडा है यदि खरीदने वाले वडे-वडे है तो यह भी भूलना न होगा कि यहाँ के पारखी भी कम वडे नही। और पारखियो का कटु अनुभव कम नहीं कि इस विशाल देश के रत्नो के पानी को परखकर उन्होने जव चेष्टा की कि ये रत्न व्यवसायियो की थैलियो से निकलकर, वहुमूल्य आभरणो में सजकर सामने आयें तो उन्हें निराश ही होना पडा। हमारे इन रत्नो ने व्यवसायियो

की थैलियो में रहना ही पसन्द किया। अब इस दयनीय परिस्थिति को किसी का कौशल कहा जाय या विधि का विधान?

निराशा और ग्लानि सच्चे साहित्यिक की बाधा नही हो सकती, भले ही गुरु मत्स्येन्द्र क्षणिक माया में गुमराह होते दीख पड़ें, शिष्य गोरख उन्हें जगाने की चेष्टा तो करेगा ही। किन्तु, सिद्ध गोरख की वाणी प्रेरणा देने में समर्थ होगी केवल सिद्ध हठयोगी मत्स्येन्द्र को ही, 'हठी मत्स्येन्द्रियों' को नही।

के सिरमौर समझे जाते हैं, जिनकी कृतियाँ बडे ठाट-बाट के साथ पुरस्कृत की गयी है तथा जिनके गीत गाते हमारे सम्पादक और स्वनामधन्य आलोचक थकते नजर नही आते ।

एक 'कहानी सम्राट्' अपनी एक 'विशिष्ट' एव 'उच्चकोटि' की एक विशेपाक में छपी हुई कहानी में लिखते है कि 'बी० ए० प्रीवियस का विद्यार्थी था ।' जिस 'कहानी सम्राट्' ने मातृभापा होने के नाते ही हिन्दी पर अपना पूर्ण आधिपत्य समझ रखा हो तथा जन्मजात कलाकार होने का जिसे भरपूर दम्भ हो, तथा जिसे मिडिल से आगे शिक्षा पाने की कोई आवश्यकता ही न समझ पडी हो, उसे क्या मालूम कि 'बी० ए० प्रीवियस' जैसी कोई चीज नही हुआ करती । जिस कक्षा का वह जिक्र करना चाहता है, उसे या तो 'बी० ए० फर्स्ट इयर' कहते हैं या वह 'थर्ड इयर' कहलाती है।

एक दूसरे चोटी के कलाकार अपनी एक सुप्रसिद्ध कहानी में लिखते हैं "होटल में हमारा फ्लैट रिजर्व था।" इनकी शिक्षा की कोई विशेप जानकारी तो नही, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अग्रेजी भाषा से ज्यादा शौक इन्हें शायद सस्ती अग्रेजियत का है। अपने थोडे से जोडे-बटोरे ज्ञान के प्रदर्शन की इतनी व्याकुलता ने इन्हें इतना भी जानने का अवसर न दिया कि होटलो में 'फ्लैट' नही हुआ करते 'सुइट' होते हैं। फ्लैट के अतिरिक्त 'सुइट' भी कोई शब्द है या इन दोनो में कुछ अन्तर भी है, यह ये 'चोटी के कलाकार' भला क्यो समझने लगे ?

एक और स्वनामधन्य 'हिन्दी के प्रसिद्ध' कलाकार लिखते है कि " न केवल चिकित्सा-शास्त्र में ही 'डाक्टर' की डिगरी ले चुके थे वरन् साहित्य की 'डाक्टरेट' भी हासिल कर चुके थे।" आगे चलकर कलाकार महोदय लिखते हैं कि "इन्होने पी० एच०-डी० की डिग्री ली थी 'आक्सफोर्ड' युनिवर्सिटी से।" इन महान कलाकार महोदय को यह जानने की कोई आवश्यकता न जान पडी कि जिस चरित्र को ये सामने उपस्थित करना चाहते हैं वह जीवन की साधारण परिस्थितियो में सम्भव भी है या नही ? इन्हें क्या मालूम कि इनका यह 'चिकित्सक डाक्टर' इनकी कल्पना के विरुद्ध, इनके निरर्थक प्रयासपूर्ण चित्रण का उपहास-सा करता हुआ किसी साहित्यिक के सामने 'गोल्डस्मिथ' की ही शक्ल में खडा हो सकेगा। इन उच्चकोटि के पुरस्कार प्राप्त कलाकार महोदय को यह भी

जानने की जरूरत नही कि आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी की डिग्री का शुद्ध नाम 'पी० एच०-डी०' नही 'डी० फ़िल०' है। यह सब तो ये तब जानते जब इन्होने ऑक्सफोर्ड का केवल नाम लेने के अतिरिक्त वहाँ के विषय में कुछ और भी जाना होता।

इसी प्रकार एक अन्य 'उच्चकोटि' के कहानी-लेखक महोदय हिन्दी की एक विशिष्ट पत्रिका में प्रकाशित अपनी कहानी में लिखते हैं कि " जो कई पत्र-पत्रिकाओ का एडिटर था—सोफे पर लेटा हुआ था और आवश्यक कागज-पत्रो से भरा हुआ उसका हैंडबैग पास पडा हुआ था।"

इन 'उच्चकोटि के कहानी लेखक महोदय' का अग्रेजी भाषा या अग्रेजी के तौर तरीको का ज्ञान वाजिब ही जान पडता है, लेकिन अग्रेजियत का शौक सीमा से आगे बढा हुआ है। ये क्यो सोचने लगे कि Lying down on a Sofa का अर्थ—'सोफ़े पर लेटा हुआ था'—के अतिरिक्त और भी कुछ हो सकता है ? ये क्यो समझने लगे कि 'लेटना' और 'पडा रहना' ये दोनो प्रयोग हिन्दी मे अपना अलग-अलग अर्थ रखते है। सोफ़े पर 'पडा' रहा जा सकता है, किन्तु 'लेटा नही जा सकता, अन्यथा वह सोफा न होगा, या तो होगा 'डीवान' या अपना देशी तखत। इस थोथी अग्रेजियत का पर्दा फाश न करके अगर 'एडिटर' महोदय को 'तखत' पर ही लिटा देते, तो कहानी के मूल्य में कोई विशेष फर्क न पडता।

कागज-पत्रो के खरीते को 'पोर्टफोलियो' कहा जाता है या 'डाक्यू-मेंट केस' न कि 'हैण्ड बैग'। इन सब वास्तविक अन्तरो को समझने की या जानने की इन ऊँचे कलाकारो को जरूरत ही क्या ?

एक और हिन्दी के 'प्रख्यात' कहानी-लेखक द्वारा सम्पादित पत्रिका में छपी अपनी ही कहानी में वे लिखते है कि " ने को शाम के सात बजे 'टी' पर आमन्त्रित किया।"

आगे चलकर उसी कहानी में आप फर्माते हैं कि " ने का जिस समय स्वागत किया उस समय वह एक सुन्दर 'डिनर सूट' में था।" यह सब पढने के बाद आश्चर्य होने लगता है कि ये 'उच्चकोटि' के कलाकार 'टी', 'डिनर' और 'डिनर सूट' का केवल नाम ही भर जानते है या इससे अधिक और कुछ भी।

यह अग्रेजियत पसन्द इतना भी न जान सके कि 'टी' का निमन्त्रण सात बजे शाम को वैसा ही बेतुका है जैसा कि 'टी' पर स्वागत करने के

लिए 'डिनर सूट' में सुसज्जित होना। इस गम्भीर ज्ञान को ज्यो का त्यो प्रकाशित करके सम्पादक महोदय ने भी अपने ज्ञान और अपनी कर्त्तव्य-परायणता का थोडा-सा परिचय दे ही दिया है।

मगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त महाविद्वान एक कलाकार लिखते है—"जिस प्रकार अग्रेजी भापा के लिए पार्लियामेंट की भाषा आदर्श मानी जाती है।"

इनके इस महाअनुसवान के लिए इन्हें किन शब्दो में वधाई दी जाय। सन्देह होने लगता है कि इन महानुभाव ने 'पार्लियामेंट' किसे कहते हैं यह भी अपने जीवन में जाना था या नही? यह तो मानना ही पडेगा कि भाषा का मापदड इनका अपना अलग ही रहा होगा। क्यो न हो मगलाप्रसाद पुरस्कार विजेता महाविद्वान् जो ठहरे!

इसी प्रकार 'सैकडो कहानियो के रचयिता अमर कहानी लेखक' की पदवी से विभूषित एक सज्जन अपनी एक 'अमर' कहानी में अपने प्रधान पात्र से रेल में फर्स्ट क्लास के डिब्बे में यात्रा करा रहे है। अपनी पूरी कल्पना-शक्ति का वूँद-वूँद अर्क निचोडकर रख देने के वावजूद भी इनका वह 'फर्स्ट क्लास'—'इण्टर क्लास' के डिब्बे से अधिक ऊपर नही उठ पाता। क्यो कि लेखक महोदय ने शायद स्वय 'थर्ड' या 'इण्टर' छोडकर 'फर्स्ट' की कौन कहे 'सेकेण्ड' का मुँह तक न देखा होगा, तब कोरी कल्पना-शक्ति कहाँ तक सहायता करती।

हमारे ये कथा-साहित्य के विधाता केवल वस्तु या परिस्थितिज्ञान से ही शून्य हो सो नही, वरन् अपनी भाषा हिन्दी—जिसके माध्यम से वे अपनी कला की सुसचित थाती को लेकर सामने आते हैं, उसपर भी अधिकार का तो जिक्र ही क्या—उसके इनके सामान्य ज्ञान में भी शका होने लगती है।

इन्ही उच्चकोटि के कलाकारो के कुछ थोडे से उदाहरण इस ओर भी देखने योग्य हैं। एक ने कही सुन लिया अग्रेजी का एक फिकरा Psychological rest और विना कुछ सोचे-समझे उसे हिन्दी में भी अवतरित कर वैठे और लिख मारा 'मनोवैज्ञानिक विश्राम'। यदि कोई जरा इस प्रयोग पर विचार करे तो इस कलाकार की बुद्धि पर तरस आए विना नही रहेगा।

एक दूसरे कलाकार की कलम का नमूना भी देखने लायक है। नायिका का वर्णन करते हुए आप फर्माते हैं " वह ज्वलन्त युवती थी।" अंग्रेजी का Fiery Youth प्रयोग कही इनके कानो तक पहुँच गया था बस वही 'ज्वलन्त रूप' में प्रकट हो गया।

एक और धुरन्धर कलाकार किसी का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"स्नायुओ को जबरन (?) कसा हुआ बनाने के कारण उसकी मुद्रा में एक प्रकार की प्रस्तर प्राय स्थिरता आ गयी थी।" समझने में देर न लगनी चाहिए कि इन महानुभाव की यह 'मौलिक' कहानी, जो इस प्रकार के वर्णनो से ओत-प्रोत है, हिन्दी ससार के सामने भले ही मौलिक कहकर पेश की जाय परन्तु वास्तव में है वह किसी विदेशी कहानी का अनुवाद और वह भी निहायत भद्दा और बेतुका। एक और महोदय लिखते हैं '. चर्या पर करारापन अकित था।' भाषा का यह प्रयोग भी कम 'करारा' नही है।

ये सारे उदाहरण स्पष्ट बता रहे हैं कि हमारे इन कलाकारो की प्रेरणा की, अभिव्यक्ति की तथा इनकी सारी कला की ही शक्ति का स्रोत इनके अपने भीतर नही हैं वरन् बाहर है। प्राय हर चीज के लिए ये पाश्चात्य भाषा, भाव, रहन-सहन या यो कहिए पाश्चात्य जीवन के ही मुहताज हैं। जो कुछ भी ये मौलिक कहकर सामने रखने की चेष्टा करते हैं वह सडी हुई जूठन के अतिरिक्त और कुछ नही। यह ठीक है कि ज्ञान के क्षेत्र में कहीं से भी कुछ ले लेने का अधिकार सनातन एव नैसर्गिक है। लेकिन उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि सामग्री ली नहीं गई हैं; वरन् इधर-उधर से बटोर ली गई है, उडा ली गई है।

अपने समर्थन में इन कलाकारो की दलील यह है कि वर्णनो में यदि तोला माशा ठीक की जाँच की जायेगी तो कल्पना के लिए स्थान ही कहाँ रह जायगा? इसी प्रकार भाषा के लिए भी प्राय कहा जाता है कि हिन्दी तो जीवित भाषा है उसे कहीं से भी नवीन प्रयोगो के ले लेने का अधिकार है। किन्तु इन उपर्युक्त दलीलो में थोथेपन के अतिरिक्त और है क्या? उपर्युक्त उदाहरण तो वस्तु-ज्ञान के शैथिल्य का द्योतक हैं, वहाँ कल्पना का प्रश्न कहाँ उठता है? भाषा विषयक दलील भी कुछ वैसी ही है। किसी भाषा से उपयुक्त मुहावरे या शब्द ले लेना बुरा नहीं, लेकिन कब! जबकि ऐसे शब्द या मुहावरे जानबूझ कर अधिकार के साथ लिए जायें, और लेकर

अपनी भाषा में, अपनी शैली में ढाल लिए जायें। किन्तु विना समझे-बूझे या विना अधिकार के ही उडा लिये जायेंगे तो वे शैली में ढल न सकेंगे। तव फबने के वदले अशुद्धता और भद्देपन की समस्या उपस्थित कर देंगे क्योकि ढालने वाली शक्ति तो अधिकार पर निर्भर रहती है विना उसके यह सम्भव कहाँ ?

यह ठीक है कि कल्पना कलात्मक साहित्य की जान है, और भाषा उसका सौन्दर्य है। इन्ही के सहारे कलाकार आत्माभिव्यक्ति में समर्थ होता है, और इन्ही के द्वारा वह जीवन में नये आदर्शों तथा नये रूपो की सृष्टि करता है। यदि कल्पना का वल न होता तो कलाकार नवीनता की सृष्टि न कर पाता, और यदि शब्दो का वल उसे प्राप्त न होता तो उसकी कला गूँगी रह जाती। लेकिन कल्पना तथा शब्द दोनों ही के प्रयोग 'यथार्थ' अथवा 'अयथार्थ' हो सकते हैं। यथार्थ कल्पना या शब्द कलाकार की सफलता के साधन हैं, किन्तु इसी के विपरीत इनकी अयथार्थता उसकी बहुत बडी असफलता है।

[इस लेख का प्रयोजन व्यक्तिगत आक्षेप करना नही, इसीलिए उदाहरण दे दिये गये हैं, किन्तु कलाकारो के नाम नही दिये गये हैं —लेखक]

'तुझ से बढ़कर ख़ूबियाँ पाएगी ये तस्वीर क्या ?'

यह बीसवीं सदी अपनी विविधोन्मुखी जीवन की प्रगतियो के लिए प्रसिद्ध है। पैरो पर चलनेवाले मनुष्य ने जब जानवरो को अपना वाहन बनाया था, उस समय उसके भीतर प्रगति की ही चेतना रही होगी। जानवर के साथ किसी प्रकार की गाडी का जुड़ जाना बढती हुई प्रगति का चिह्न कहा जा सकता है। आधुनिक युग में गाडी ही नही, मोटर भी नही, वरन् आज तो हवाई जहाज़ प्रगतिशील मनुष्य की सवारी हैं। ससार का हर क्षेत्र परिवर्तन-क्रम में पडा हुआ रूप बदला करता है। कहना कठिन है कि मनुष्य ने जब पहले पहल पत्थरो पर चित्र खोदे थे और विविध प्रकार के रूप अकित किये थे, तो उस समय उसके भीतर कला की भावना प्रबल थी या कौतुक की या प्रदर्शन की या किसी विशेष रूप को अपनी स्मृति में सचित रखने की। लेकिन यह ज़रूर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनय-कला का जन्म मनुष्य की किसी घटना या व्यक्ति विशेष की नकल करनेवाली सहज प्रवृति का ही फल था। कुछ काल के बाद उस प्रदर्शन की प्रवृत्ति के द्वारा अन्य उपयोगी और मनोरजक कार्य भी सधने लगे थे, क्योंकि भाषा होते हुए भी उसके लिखने-पढ़ने की योग्यता का अधिकारी मनुष्य बहुत बाद बना था। इसके पहले अपने अनुभव और अपने विचार व्यापक रूप से प्रकट करने में अभिनय-कला ही उसकी सहायता करती थी, क्योंकि उसका सीधा सबध देखने और सुनने से है।

युगो तक मनुष्य के स्वभाव की अभिनय-शीलता विविध रूपो में देश-विदेशों में मनुष्यों को तरह-तरह के नये-नये पाठ पढाती रही, हँसाती रही और रुलाती रही। जहाँ एक ओर कलाकार भास, कालिदास, भवभूति, राजशेखर इत्यादि अपने-अपने समयो में जीवन में नये-नये रग भर गए थे, वही भरत मुनी और धनजय, कला के इस अग की विविध समीक्षाओ के द्वारा सीमायें भी अकित कर गये थे। अभिनय के क्षेत्र पर कभी किसी

अपनी भाषा में, अपनी शैली में ढाल लिए जायें। किन्तु बिना समझे-बूझे या बिना अधिकार के ही उडा लिये जायेंगे तो वे शैली में ढल न सकेंगे। तब फबने के बदले अशुद्धता और भद्देपन की समस्या उपस्थित कर देंगे क्योकि ढालने वाली शक्ति तो अधिकार पर निर्भर रहती है बिना उसके यह सम्भव कहाँ ?

यह ठीक है कि कल्पना कलात्मक साहित्य की जान है, और भाषा उसका सौन्दर्य है। इन्ही के सहारे कलाकार आत्माभिव्यक्ति में समर्थ होता है, और इन्ही के द्वारा वह जीवन में नये आदर्शों तथा नये रूपो की सृष्टि करता है। यदि कल्पना का बल न होता तो कलाकार नवीनता की सृष्टि न कर पाता, और यदि शब्दो का बल उसे प्राप्त न होता तो उसकी कला गूँगी रह जाती। लेकिन कल्पना तथा शब्द दोनो ही के प्रयोग 'यथार्थ' अथवा 'अयथार्थ' हो सकते है। यथार्थ कल्पना या शब्द कलाकार की सफलता के साधन है, किन्तु इसी के विपरीत इनकी अयथार्थता उसकी बहुत बडी असफलता है।

[इस लेख का प्रयोजन व्यक्तिगत आक्षेप करना नही, इसीलिए उदाहरण दे दिये गये है, किन्तु कलाकारो के नाम नही दिये गये है —लेखक]

'तुझ से बढ़कर ख़ूबियाँ पाएगी ये तस्वीर क्या ?'

यह वीसवी सदी अपनी विविधोन्मुखी जीवन की प्रगतियो के लिए प्रसिद्ध है। पैरो पर चलनेवाले मनुष्य ने जव जानवरो को अपना वाहन वनाया था, उस समय उसके भीतर प्रगति की ही चेतना रही होगी। जानवर के साथ किसी प्रकार की गाडी का जुड जाना वढती हुई प्रगति का चिह्न कहा जा सकता है। आधुनिक युग में गाडी ही नही, मोटर भी नही, वरन् आज तो हवाई जहाज़ प्रगतिशील मनुष्य की सवारी है। ससार का हर क्षेत्र परिवर्तन-क्रम में पडा हुआ रूप वदला करता है। कहना कठिन है कि मनुष्य ने जव पहले पहल पत्थरो पर चित्र खोदे थे और विविध प्रकार के रूप अकित किये थे, तो उस समय उसके भीतर कला की भावना प्रवल थी या कौतुक की या प्रदर्शन की या किसी विशेष रूप को अपनी स्मृति में सचित रखने की। लेकिन यह ज़रूर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनय-कला का जन्म मनुष्य की किसी घटना या व्यक्ति विशेष की नकल करनेवाली सहज प्रवृति का ही फल था। कुछ काल के वाद उस प्रदर्शन की प्रवृत्ति के द्वारा अन्य उपयोगी और मनोरजक कार्य भी सधने लगे थे, क्योकि भाषा होते हुए भी उसके लिखने-पढ़ने की योग्यता का अधिकारी मनुष्य वहुत वाद वना था। इसके पहले अपने अनुभव और अपने विचार व्यापक रूप से प्रकट करने में अभिनय-कला ही उसकी सहायता करती थी, क्योकि उसका सीधा सवध देखने और सुनने से है।

युगो तक मनुष्य के स्वभाव की अभिनय-शीलता विविध रूपो में देश-विदेशो में मनुष्यो को तरह-तरह के नये-नये पाठ पढाती रही, हँसाती रही और रुलाती रही। जहाँ एक ओर कलाकार भास, कालिदास, भवभूति, राजशेखर इत्यादि अपने-अपने समयो में जीवन में नये-नये रग भर गए थे, वही भरत मुनी और धनजय, कला के इस अग की विविध समीक्षाओ के द्वारा सीमायें भी अकित कर गये थे। अभिनय के क्षेत्र पर कभी किसी

देश विशेष अथवा जाति विशेष का एकाधिपत्य नही सिद्ध किया जा सकता। चीन की नाट्य-कला अपनी प्राचीनता और उन्नति की चरम सीमा के लिए जगत प्रसिद्ध है। ग्रीस और रोम के नाटककार अपनी रचनाओ के लिए अमर हो गये हैं। इगलैण्ड का शेक्सपीयर इसी कला का साधक था। योरोप के साहित्य-क्षितिज पर इब्सन ने उदय होकर ऐसा इन्द्रधनुष प्रत्यक्ष कर दिया, जिसे देखकर ससार विस्मित हो उठा। और एक क्षण के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा कि नाट्य-कला अपने उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँच चुकी है, और उसके बाद इस क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करना किसी कलाकार के भाग्य में न होगा। फ्रांस में मॉलियर की नाटकीय प्रतिभा ने भी कुछ ऐसा ही तहलका मचा दिया था। लेकिन इनके बाद भी बर्नाड शा और गाल्सवर्दी का युग नाट्य जगत् में आ ही गया और इब्सन और मॉलियर की कृतियो को जिह्नोने सिद्धि की सीमा मान लिया था, उन्हें कुछ ऐसा समझ पड़ा कि उनकी वह सीमा की धारणा क्षितिज की सीमा थी, जो ज्यो-ज्यो पथिक आगे बढता है—अपने आप विस्तृत होती जाती है।

परम सन्तोषदायिनी किसी कृति के अवलोकन के पश्चात 'न भूतो न भविष्यति' की धारणा बना लेना मनुष्य की पुरानी आदत है। एक सफल कलाकार अपनी अभिव्यक्ति कें लिए समय और वातावरण के अनुसार किन्ही विशेष ढाँचो पर अपने सदेश के अनुकूल विविध रूपो की सृष्टि किया करता है। ये नवनिर्मित कलात्मक रूप समय और वातावरण के अनुरूप होने के कारण अपने युग सन्देश के सफल वाहक सिद्ध हो जाते हैं और अपने युग में अपनी प्रतिष्ठा के अधिकारी हो जाते हैं। किन्तु वह युग विशेष ही उस प्रतिष्ठा का जीवन-काल हो सकता है। उस युग-परिवर्तन के बाद भी उन कृतियो में मनुष्य की रुचि कुछ रह सकती है उनकी आन्तरिक उपयोगिता के कारण। किन्तु उनकी एकछत्र सत्ता विलीन हो जाती है। क्या शेक्सपीयर के या इब्सन के ही परम प्रसिद्ध नाटक आज के जमाने में भी ठीक वही महत्व रहखते हैं, जो बर्नाड शा के? आज भी प्राचीन एव प्रसिद्ध नाटको के अभिनय देखे भले ही जाते हो, लेकिन उनमें आज का कोई दर्शक इस युग की भावना या विचार-धारा नही देख सकता, न इस युग का सन्देश विशेष ही उनमें मिल सकता है। हाँ, कुछ चोखी उक्तियाँ भले ही उनमें मिल सकती है, जो शायद बहुत दिनो तक मनुष्य की स्मृति में चिपकी रहेंगी।

परिवर्तन-क्रम में सभी कुछ वदल जाता है। परिस्थितियो के साथ, जीवन-पथ के साथ दृष्टिकोण भी वदल जाता है और उसी के अनुसार रुचि और अरुचि भी वदला करती है। आज के 'विज्ञान-युग' की एक सवने वडी करामात है मनुष्य का विजली के रहस्य का प्राप्त कर लेना। अन्य उपयोगी और आश्चर्यजनक नवीनताओ के साथ इसी विजली ने चित्रपट की कला को जन्म दे डाला। चित्रो की मूकता विजली ने ही देखते-देखते मुखरता में परिवर्तित कर दिया। इसके सहारे कलाकार की तूलिका कल्पना की असम्भव-सी उड़ान को भी सभव-सी कर दिखाने में समर्थ हो सकी, और नाट्य कला की परम्परागत् सीमायें क्षणो में छिन्न-भिन्न होकर नवीन रूप धारण करने लगी। निश्चय ही नाट्य-कला के सुचारु अभिनय देखने की अभ्यस्त आँखें पहले पहल चित्रपट पर अकित कथाओ के प्रदर्शन को निरा निर्जीव समझकर उपेक्षणीय ही समझती रही होगी। लेकिन धीरे-धीरे आज चित्रपट का ही युग आ गया। रगमच और अभिनय दोनो का ही जीवन सकट में जान पड़ने लगा। यहाँ तक कि कालिदास के जगत् प्रसिद्ध 'अभिज्ञान शाकुन्तल' या शेक्सपीयर के 'हेमलेट' को भी आज अपने मूल रूप को छोडकर वरवस चित्रपटी कला के साँचे में ढलना पडा है। इसी युग के वर्नाड शा और गाल्सवर्दी को भी अपने नाटको के लिए सजीव अभिनय के वदले चित्रपटी कला अपनानी पडी। लेकिन एक कहावत प्रसिद्ध है कि ढलते दिनो में चिर सहायक भी भयकर विरोधी हो जाते हैं। जिस विद्युत ने चित्रपट की कला को जन्म दिया, पाला पोसा और इतनी प्रवलता प्रदान की, उसी ने रेडियो के आविष्कार की नींव डाली। केवल यही तक नही, आज तो टेलीविजन का भी आविष्कार हो चुका है, जिसके द्वारा हजारो मील दूर होनेवाला कोई भी व्यापार केवल ध्वनि में ही नही वरन् रूप में भी आँखो के सामने प्रत्यक्ष हो उठेगा। आखिर चित्रतट की कला को रगमच और प्राचीन नाटक पर विजय क्यो और कैसे मिली? केवल इसीलिए न, कि चित्रपट रगमच और नाटक की सीमाओ और मजवूरियो की सकीर्णता से वहुत अधिक मुक्त था, कल्पना जगत् की सम्भव और असभव परिस्थितियाँ वह प्रत्यक्ष कर दिखाता था। और अव तो सवाक भी है, पैसो के हिसाव में भी उसका मनोरजन सस्ता पडता है। लेकिन कमजोरियो से खाली यह भी नही है। अपनी सारी रगीनियो के वावजूद भी, है यह केवल तस्वीरो

का खेल। देखते समय सुन्दर दृश्यावलि मोहक स्वरावली में एक क्षण के लिए दर्शक मुग्ध-सा भले रह जाय, लेकिन सोचता तो है ही कि जो कुछ देखा वह है तस्वीर ही। हाड, मास की सजीवता का अपना एक आकर्षण होता है, वह उसमें कहाँ? मन के इसी क्षीण असन्तोष पर अपने दुर्दिनो में भी रगमच और नाटक किसी प्रकार टिके हुए काल-यापन कर रहे हैं और नाटक-प्रेमियो का उत्साह और उल्लास इसी में केन्द्रित है कि नाटक के पात्र केवल चित्र नही वरन् सजीव प्राणी होते हैं। टेलीविज़न सजीवता का केन्द्र होगा। अब पात्र और, घटनाएँ, स्टूडियो और काल्पनिक चित्रो के आधार पर निरी ऐन्द्रजालिक न होगी। इसमें अभिनीत कला के पात्र चित्र के माध्यम से सामने न आयेंगे, वरन् प्रत्यक्ष से ही स्वय उपस्थित हो जायेंगे। वह चित्रपटी कला की निष्प्राणता यहाँ न खटकेगी, और स्वभावत इसका आकर्षण बहुत अधिक होगा, लेकिन शायद यह भी अभिनय-कला की सीमा न होगी। शीघ्र ही ऐसे यत्र भी आविष्कृत होने वाले हैं जो व्यक्ति को महाभारत के प्रसिद्ध सजय की दिव्य दृष्टि सहज ही प्रदान कर सकेंगे, जिनकी सहायता से मनुष्य विस्तृत विश्व में प्रतिक्षण होने वाले घटना-वैचित्र्य को अनायास ही देख सकेगा। यह तो सभी को मानना पडता है कि अपनी सारी कुशलता के बावजूद भी वैचित्र्य और रगीनियो में मनुष्य प्रकृति से काफी पीछे है और शायद रहेगा भी, जो आँखें एक बार अलौकिक प्रकृति वैचित्र्य को देख लेंगी फिर इन चित्र-पटो में या इन रगमचीय अभिनयो से उनका अनुराग ही क्या होगा।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ २४ की सातवीं पक्ति के शुरू में 'होगा कि' निकाल कर पढें।

पृष्ठ २५ की सातवी पंक्ति में 'अवधि' को 'अवधी' पढ़ें ।

पृष्ठ २६ की प्रथम पैरा की अन्तिम दो पक्तियो में पृष्ठ ३१ की अन्तिम पक्ति के पहले लगा कर पढें।

पृष्ठ ३३ की अन्तिम पक्ति में 'क्यो क्यो ?' शब्द में एक क्यो निकाल कर पढें।

पृष्ठ ४६ में नीचे से आठवीं 'पक्ति' के अन्तिम शब्द भिपग्रत्नो को भिषग्रत्नो पढें।

का खेल ! देखते समय सुन्दर दृश्यावलि मोहक स्वरावली में एक क्षण के लिए दर्शक मुग्ध-सा भले रह जाय, लेकिन सोचता तो है ही कि जो कुछ देखा वह है तस्वीर ही। हाड, मास की सजीवता का अपना एक आकर्षण होता है, वह उसमें कहाँ ? मन के इसी क्षीण असन्तोष पर अपने दुर्दिनो में भी रगमच और नाटक किसी प्रकार टिके हुए काल-यापन कर रहे हैं और नाटक-प्रेमियो का उत्साह और उल्लास इसी में केन्द्रित है कि नाटक के पात्र केवल चित्र नही वरन् सजीव प्राणी होते हैं। टेलीविज़न सजीवता का केन्द्र होगा। अब पात्र और, घटनाएँ, स्टूडियो और काल्पनिक चित्रो के आधार पर निरी ऐन्द्रजालिक न होगी। इसमें अभिनीत कला के पात्र चित्र के माध्यम से सामने न आयेंगे, वरन् प्रत्यक्ष से ही स्वय उपस्थित हो जायेंगे। वह चित्रपटी कला की निष्प्राणता यहाँ न खटकेगी, और स्वभावत इसका आकर्षण बहुत अधिक होगा, लेकिन शायद यह भी अभिनय-कला की सीमा न होगी। शीघ्र ही ऐसे यत्र भी अविष्कृत होने वाले हैं जो व्यक्ति को महाभारत के प्रसिद्ध सजय की दिव्य दृष्टि सहज ही प्रदान कर सकेंगे, जिनकी सहायता से मनुष्य विस्तृत विश्व में प्रतिक्षण होने वाले घटना-वैचित्र्य को अनायास ही देख सकेगा। यह तो सभी को मानना पडता है कि अपनी सारी कुशलता के बावजूद भी वैचित्र्य और रगीनियो में मनुष्य प्रकृति से कोसो पीछे है और शायद रहेगा भी, जो आँखें एक बार अलौकिक प्रकृति वैचित्र्य को देख लेंगी फिर इन चित्र-पटो में या इन रगमचीय अभिनयो में उनका अनुराग ही क्या होगा !

शुद्धि पत्र

पृष्ठ २४ की सातवीं पक्ति के शुरू में 'होगा कि' निकाल कर पढें।

पृष्ठ २५ की सातवी पंक्ति में 'अवधि' को 'अवधी' पढ़ें ।

पृष्ठ २६ की प्रथम पैरा की अन्तिम दो पक्तियों में पृष्ठ ३१ की अन्तिम पक्ति के पहले लगा कर पढें।

पृष्ठ ३३ की अन्तिम पक्ति में 'क्यो क्यो ?' शब्द में एक क्यों निकाल कर पढ़ें।

पृष्ठ ४६ में नीचे से आठवीं 'पक्ति' के अन्तिम शब्द भिपग्रत्नो को भिषग्रत्नो पढें।